पत्नी अब क्या करे? वह अपने पति का स्वभाव जानती थी। एक बार कोई निश्चय कर लेने पर वह फिर उस सम्बन्ध में वाद-विवाद करना पसन्द नहीं करता था। इसलिए तर्क करना व्यर्थ समझ कर वह चुप होकर बैठ रही।

और शिल्पी अपनी शिल्प-शाला में जा बैठा, जहाँ वह सवेरे से अर्द्धरात्रि पर्यन्त काम करता रहा। इस बीच में उसने विराम का नाम नहीं लिया। यह उसका नित्य-क्रम हो गया।

वह यन्त्र-शाला में बैठ जाता, और कल्पना के नेत्रों से मनुष्य को आकाश में पक्षी की भाँति उड़ते देखता रहता। उसकी दृष्टि निरन्तर उसी उड़ान का पीछा करती जान पड़ती थी। वह न भरपेट खाता था, न पूरी नींद सोता था। मानो अब आशा पर ही उसका जीवन अवलम्बित था। उसने यन्त्रों के सैकड़ों नमूने बनाये और नष्ट कर डाले। सहस्रों प्रयोग किये और असफल रहा; परन्तु वह हताश नहीं हुआ। उसे प्रत्येक बार इसका पूरा विश्वास रहता कि अगले प्रयोग में अवश्य उसे सफलता मिलेगी।

पत्नी उसे समझाती कि वह क्यों व्यर्थ के इस झमेले में पड़ा है। परन्तु वह अपनी धुन के सामने किसी की क्यों सुनने चला? लाचार होकर उसने कहना छोड़ दिया। उसे विश्वास हो गया कि पति की यह सनक दूर नहीं होगी। उसके पास कुछ रुपये थे, जिनसे कुछ दिन तक उसने गृहस्थी का खर्च चलाया। फिर एक-एक करके अपने गहने बेच डाले और जब वे भी नहीं रहे, तब छिपे-छिपे मज़दूरी करने लगी। पति के लिए वह सब कुछ करने को तैयार थी।

पुरस्कार

लेखक

कृष्णानन्द गुप्त

प्रकाशक

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर

इलाहाबाद

संवत् १९९६

[मूल्य ३)

कहने से मुझे अपना इरादा बदलना पड़ा। हम दूसरी तरफ़ को चल पड़े। किस तरफ़ को, यह मुझे मालूम नहीं। हम तेज़ी से चल रहे थे मानो मृत्यु हमारे पीछे हो। उस समय सन्ध्या हो रही थी। सूर्य क्रम से रक्तवर्ण होकर पृथ्वी की अन्तिम रेखा के अन्तराल में छिप गया था। चारों ओर निस्तब्धता थी। केवल नाले के किनारे एक प्रकार का पक्षी बैठा हुआ टी-टी-टी की रट लगा रहा था। एक ओर दो छोटे गाँव थे, सामने सघन अमराई थी और बायीं ओर संकीर्ण नाले की जल-रेखा।

हमने अमराई में प्रवेश किया। मुश्किल से दस क़दम चल पाये होंगे कि घोड़ों की टापों की आवाज़ और आदमियों की अस्पष्ट कोलाहल-ध्वनि सुन कर हम दोनों ही चौंक पड़े। माँ का तो भय से बुरा हाल हो गया। हम दोनों ही आसन्न भय की आशंका से वहीं ठिठक कर रह गये। मैंने माँ का हाथ पकड़ लिया। इतने में अमराई की सूखी पत्तियाँ खड़कीं। मैंने चौंककर मुँह फेरा। देखता क्या हूँ, तीन लम्बे-तड़ंगे गोरे सिपाही बायीं ओर से अमराई भेद कर मेरी तरफ़ को आ रहे हैं। मेरा ख़ून सूख गया। माँ शून्य-दृष्टि से देखती रह गयीं। उस समय भागने का प्रयास भी व्यर्थ था। अथवा हम लोग भय से ऐसे अभिभूत हो गये थे कि हमारे पैर नहीं उठे। गोरे हमारे पास आ गये। पहले से हँसकर कुछ बातें कर रहे थे। एक ने आगे बढ़ कर कहा, 'टुम इढर कहाँ आया था।' मैं चुप रहा। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। इस पर दूसरे ने उससे अँगरेज़ी में कुछ कहा—शायद हमें बन्दी करने के लिए—क्योंकि उसकी बात सुनकर पहले सिपाही ने हम दोनों के हाथ

प्रकाशक—

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

पहला संस्करण

मुद्रक—
सुशीलचन्द्र वर्मा
सरस्वती प्रेस,
जार्ज टाउन, इलाहाबा

दोस्तों को मौके-बे-मौके बिना पैसों का एक पान भी खिला सकूँ ? रखिये जनाब, अपना यह पैसा अपने पास।' मैंने पैसा उठा लिया।

'अच्छा, ये सिगरेट भी पी के देखो।

'विदेशी तो मैं ....

'तमोली से एक दिन झगड़ा हो गया। मैंने साफ़ कह दिया कि तुम्हारी दूकान पर हल्ला बुलवा दूँगा, अगर कैंची या हाथी या बकरी का एक ख़ाली डिब्बा भी मैंने तुम्हारी दूकान पर देखा। सब स्वदेशी सिगरेट हैं और स्वदेशी बीड़ियाँ भी हैं।'

'भई, तुम अजीब आदमी हो, तुम एक तमोली की दूकान ही क्यों न खोल लो। ख़ूब चलेगी। सिगरेट मैं हाथ से नहीं छूता और यदि तमोली की जगह यह दूकान तुम्हारी होती, तो इन सब भरे डिब्बों में मैं आग लगा देता। विष चाहे स्वदेशी हो या विदेशी, संहार तो वह करता ही है।'

'अच्छा, अच्छा, यह लेक्चर विद्यार्थियों की किसी सभा के लिए रक्खो। अच्छा बताओ, पान कैसा है ?'

'पान क्या है, ख़ुशबू की डिबिया जैसे मेरे मुँह में फट पड़ी है ! अगर तुम नाराज़ न होओ, तो मैं उसे थूक दूँ।'

'क्या कहा ? थूक दोगे ? बड़े शौक़ीन हैं आप ! कभी पान खाया है। शर्त लगा के कहता हूँ, अगर चवन्नी में भी कोई ऐसा पान तुम्हें लगा के दे दे। गधे को रेवड़ियाँ खिलाना भी अपनी मूर्खता का ढिंढोरा पीटना है। तुम्हें एक चीज़ खिलायी और उसका यह नतीजा।'

प्रकाशक का वक्तव्य

श्रीकृष्णानन्दजी गुप्त हिन्दी के एक लब्ध-प्रतिष्ठ कहानी-लेखक और आलोचक हैं। इधर कई वर्षों से उन्होंने लिखना छोड़ दिया था ; परन्तु प्रसन्नता की बात है कि वे फिर साहित्य-क्षेत्र में आये हैं।

हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में गुप्तजी का अपना एक स्थान है। उन्होंने अनेक सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों में पाश्चात्य कहानी-लेखनकला का अच्छा सामञ्जस्य रहता है। इस दृष्टि से, हमारा विचार है, गुप्तजी अपने ढँग के अकेले लेखक हैं। हमें याद है कि उन्होंने जब यकायक लिखना बन्द किया तो 'विशाल भारत' के एक लेख में उनके इस प्रकार गुम होने पर विशेष खेद प्रकट किया गया था। कहा गया था कि कहानी-क्षेत्र के प्रति गुप्तजी के इस वैराग्य से हिन्दी-साहित्य की विशेष क्षति हुई है। हम इससे सहमत हैं। परन्तु हमें आशा करनी चाहिए कि पाँच वर्ष के इस साहित्यिक सन्यास के बाद गुप्तजी एक नवीन दृष्टि-कोण लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित होंगे।

गुप्तजी कहानी-लेखक ही नहीं हैं। वे एक मार्मिक आलोचक भी हैं। प्रसादजी के नाटकों की उन्होंने जो आलोचना लिखी है वह आलोचना-साहित्य की स्वयम् एक सृष्टि है। उस आलोचना का अब तक कोई जवाब नहीं दिया जा सका। अप्रत्यक्ष रूप से पत्रों में यद्यपि उसकी

'नतीजा-वतीजा कुछ नहीं। तुम तो ऐसे नाराज़ हुए, मानो इस तमोली की दूकान पर जितनी केसर-कस्तूरी, जितना अम्बर, जितना-पिपरमेंट और लौंग और इलायची थी, जितना भी इत्र है, वह सब तुम्हारी गाँठ से ख़र्च हुआ है। इस तरह के पान मैंने अपनी ज़िन्दगी में दो-एक ही खाये हैं। इसलिए पूछता हूँ......! घर में सब लोग मज़े तो हैं, शादी तुमने कब कर ली?'

'रहे तुम बुद्धू ही। शादी मेरी अभी नहीं हुई। पान सचमुच क्या बुरा बना? अच्छा, तो लैमन पिओ। तुम्हें एतराज़ है क्या इससे? देखो तो, कैसा बढ़िया है। सदर से आता है—खोलूँ यह बोतल?'

'नहीं जी नहीं। कुछ बात तो करते नहीं। पान खाओ और लैमन पियो। क्या यही सीख रहे हो, इस दूकान पर बैठे। तो क्या इरादा है? कहीं नौकरी भी तलाश की? बहुत मुश्किल है आजकल।'

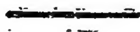
'कुछ पूछो नहीं जनाब! पिताजी का ख़याल था कि कॉलेज से निकलते ही मुझे कम-से-कम तहसीलदारी अवश्य मिल जायगी, क्योंकि हाकिमों में उनकी अच्छी बुस-पैठ है—हाँ जी, पान तुम थूक क्यों नहीं देते। इस तरह मुँह बना रहे हो, मानो उसमें कुनैन की टिकिया र[illegible] दी है मैंने। मगर अभी तीन-चार महीने की बात है, कलक्टरी में पन[illegible] रुपये की एक जगह ख़ाली हुई और मैंने शायद सबसे पहले उस जगह [illegible]लेए दरख़्वास्त दी। अच्छा, जिंजर खोलूँ तुम्हारे लिए। देखो तो ज़र[illegible]

'नहीं जी नहीं। मुझे इन चीज़ों का शौक़ नहीं। अपनी बात करो और मैं जाऊँगा यहाँ से। सर्दी लग रही है।'

काफ़ी चर्चा हुई, परन्तु गुप्तजी की आलोचना के प्रवाह से बाहर निकल, किनारा पकड़ कर, कोई अलग बात कहने का साहस किसी को नहीं हुआ। हिन्दी के पाठक जिस दिन वस्तुओं का सही मूल्य आँकना सीखेंगे 'प्रसादजी के दो नाटक' नामक पुस्तक साहित्य में एक विशेष स्थान प्राप्त करेगी।

'पुरस्कार' में गुप्तजी की जिन कहानियों का संग्रह है वे प्रायः सब आज से ५-६ वर्ष पूर्व की लिखी हुई हैं। इसके पश्चात् भी गुप्तजी ने कहानियाँ लिखी हैं। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से वे पूर्व काल की कहानियों से इतनी भिन्न हैं कि उनको अलग संग्रह में ही रखना उचित समझा गया। 'राजा के सींग' हाल की कहानी है। वह नमूने के तौर पर ही इस संग्रह में दी गयी है। इसके ठीक विपरीत 'वेश्या का हृदय' नाम की कहानी पेश की गयी है जो आज से २० वर्ष पूर्व दूसरे नाम से हिन्दी के एक अल्प-प्रसिद्ध परन्तु अब भी जीवित साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित हुई थी।

प्रकाशक



फेंकते हुए चिल्लाकर कहा—'आप यह क्या कर रहे हैं ? सभा में शान्ति स्थापित कीजिये, और बाक़ायदा काररवाई कीजिये।'

सभापति ने सहसा दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा—'आर्डर ! आर्डर !!'

सभा में पूर्ण शान्ति स्थापित होने जा रही थी। इतने में नीचे से कोई चिल्लाया—'बरौल में डाका पड़ रहा है !……'

सभा-भवन के लोग क्षण-भर के लिए सहमित-से हो गये। फिर आवाज़ें आयीं—'ठहरो ! क्या है ? क्या है ? डाका पड़ा है ! कहाँ ?' साथ ही लोग उठ खड़े हुए। विजयबहादुर ने गला फाड़कर कहा—'अजी, सुनने भी दो। क्या…?' नीचे से फिर आवाज़ आयी—'शिबूमाते के यहाँ डाका पड़ रहा है। सब लोग चलिये !…' सभा-भवन के नवयुवकों ने एक स्वर से कहा—'चलो, चलो ! शीघ्र चलो ! सभापति का चुनाव कल सवेरे होगा।' सबके हृदय सेवा-भाव से अनुप्राणित हो गये थे।

जो दो-चार बैठे रह गये थे, उन्होंने कहा—'अरे, इतना घबराते क्यों हो ? पुलिस आ जायगी।' मगर उनकी यह आवाज़ विजयबहादुर के उच्च-स्वर में दब गयी—'चलो, चलो, पुलिस क्या करेगी ? ससुरों को अभी मार कर भगाते हैं।'

'हाँ, हाँ, चलो, चलो !' जो बैठे थे, वह भी उठ खड़े हुए।

दूसरे क्षण कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर का पुराना ज़ीना साठ-सत्तर आदमियों के पाद-प्रहारों से प्रकम्पित और प्रतिध्वनित हुआ, और फिर तुरन्त ही नीरव हो गया।

प्रत्यागमन

इन कहानियों की भूमिका लिखने के लिए मैं तैयार नहीं था। मन्दिर में वैठकर घंटा वजाना और उपदेश देना पुजारी का काम है, उपासक तो देवता के चरणों में अपने फूल भेंट करके चुपचाप चला जाता है।

परन्तु मैं देखता हूँ कि मुझे घंटा भी वजाना होगा। प्रकाशकों का आग्रह है कि मैं कुछ लिखूँ। जैसी उनकी इच्छा!

आज पाँच वर्ष के दीर्घ प्रवास के वाद मैं पुनः साहित्य-क्षेत्र में लौट रहा हूँ। मेरी दशा ठीक उस प्रवासी की तरह है जो अपने घर से दूर तो चला गया हो, फिर भी किसी की याद उसे पीड़ा पहुँचाती रही हो। इन पाँच वर्षों में कई वार लिखने की इच्छा हुई, परन्तु उस इच्छा का मैंने दमन किया। कई वार तो लेखनी उठायी और मन मसोस कर रख दी। लिखने की जव इच्छा करता तभी एक वृद्ध और अनुभवी साहित्यिक का यह उपदेश स्मरण आ जाता—It is better to plant cabbages than to write books. 'साहित्य-सेवा की वजाय घास छीलना कहीं ज्यादा अच्छा है।' घास छीलने, हल जोतने या स्वतन्त्र रूप से पंसारी की दूकान खोलने से मनुष्य का मानसिक

सुन्दर पूड़ियाँ लेने गयी थी। गोरे उसे कहाँ और कैसे मिल गये, इसे वही जान सकती थी। इस वक़्त वह घिर गयी थी। गोरे चारों तरफ़ से उस पर आक्रमण कर रहे थे, और वह तलवार लेकर उन सबसे अपनी रक्षा कर रही थी। उसी समय उसने महारानी की बारीक, गूँजती हुई आवाज़ सुनी—"घबराओ नहीं सुन्दर, मैं आ गयी।" और दूसरे क्षण महारानी और सुन्दर के हाँफते हुए घोड़े गोरों के सिर पर थे। सुन्दर चौंकी, और साथ ही जैसे एक अव्यक्त निराशा और खीझ उसके चेहरे पर प्रकट हुई, और युद्ध की आसन्न गहनता में तुरन्त विलीन भी हो गयी। महारानी और मुन्दर ने आते ही गोरों पर आक्रमण कर दिया था। सूर्य के प्रकाश में उनकी तलवारें, एक प्रखर नीली आभा विकीर्ण करती हुईं, शत्रुओं पर रह-रहकर चमक उठीं। गोरों के लिए अब एक की जगह तीन प्रतिद्वन्द्वी हो गये। क्रुद्ध होकर वे एक साथ तीनों पर आक्रमण करने लगे। मगर सुन्दर उनका प्रधान लक्ष्य थी। वे बार-बार उसकी तरफ़ ही अग्रसर होते थे। यह लक्ष्य करके महारानी सुन्दर की रक्षा के लिए उसकी बग़ल में पहुँच गयीं। गोरों को कुछ भ्रम हो गया था शायद। सुन्दर किस तरह उनकी दृष्टि में महारानी बन गयी, हम कह नहीं सकते। परन्तु यह स्पष्ट था कि उसे वह जीवित या मृत, किसी तरह भी अपने साथ ले जाने पर उतारू हो गये थे। महारानी को उसकी बग़ल में खड़ा देखकर एक गोरे ने बड़े वेग से किरच फेंककर मारी। महारानी फुर्ती से उसे बचा गयीं, फिर भी थोड़ा आहत हो गयीं। गोरा दुबारा आक्रमण नहीं कर सका। महारानी ने तलवार चलायी, और वह

और शारीरिक दोनों प्रकार का स्वास्थ्य ठीक रहता है। परन्तु साहित्य-सेवा से शारीरिक स्वास्थ्य की हानि के साथ मानसिक पतन की भी बहुत गुंजाइश रहती है। हिन्दी के ही नहीं, वर्त्तमान युग में किसी भी भाषा के साहित्य-सेवी के लिए ईमानदारी और सचाई के साथ कुछ लिखते रहना कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया है। लिखने से इसीलिए मुझे अरुचि हुई, साधुता का इतना बड़ा दम्भ मुझ में नहीं है। पहले की अपेक्षा आज और भी अच्छी तरह मैं अपनी कमजोरियां जानता हूँ। इसलिए साहित्य-क्षेत्र से जो मैं अलग हुआ उसके कारण निजी ही हो सकते हैं। पाठकों पर उनके प्रकट करने का समय अभी नहीं आया।

मेरा ख्याल था कि इन पाँच वर्षों में दुनिया बदल गयी होगी। परन्तु मेरी वह धारणा गलत निकली। सारी चीज ज्यों की त्यों है। संसार-चक्र वैसा ही चल रहा है। कहीं कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। वही लेखक, वही साहित्यिक, वही प्रकाशक, और साहित्य-मन्दिर की ड्योढ़ी पर खड़े हुए वही पूर्व-परिचित पहरेदार, जिनकी उचित पूजा किये बिना देव-मूर्त्ति तक अपना अर्घ्य पहुँचाना आपके लिए कठिन है। मन्दिर के द्वार पर पहुँचते ही इनमें से एक को समझने में मुझसे भयंकर भूल हो गयी। मेरा विश्वास है उसका दंड मुझे भोगना पड़ेगा।

पाँच वर्ष के दीर्घ प्रवास के बाद अपने जिस परिचित द्वार से मैंने पुनः साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करना चाहा वहाँ अपने एक

हरी इस समय मा की सुरक्षित गोद में पहुँचकर खुलकर रो रहा था। उसके माथे पर हाथ फेरते हुए उसने पति से कहा—'जाओ अपना काम देखो। आज से कभी मेरे लड़के पर हाथ उठाया, तो तुम्हारे हक़ में अच्छा न होगा।' यह कहकर वह सिसक रहे हरी के मस्तक को छाती से चिपटाकर तेज़ी से घर के भीतर चली गयी।

बहुत मनाने पर भी हरी ने उस दिन खाना नहीं खाया। मा की गोद में मस्तक रखकर वह बहुत देर तक सिसकता रहा, और फिर शिथिल पड़कर सो गया। सुखलता फिर ब्यालू करने के लिए नहीं उठी। घर का उसार जैसा-का-तैसा पड़ा छोड़कर वह हरी को अपने साथ लेकर पड़ रही। रात में एक बार सहसा उसका चीत्कार सुनकर उसकी निद्रा भंग हो गयी। हरी स्वप्न में प्रलाप रहा था—'अब कभी नहीं जाऊँगा। कभी जय नहीं बोलूँगा। कभी नहीं बोलूँगा। बस बाबूजी, बस।'

सुखलता व्यथित होकर पुत्र के माथे पर हाथ फेरने लगी। उसके नेत्र छलछला आये, और हृदय से एक गरम निःश्वास निकली, जिसे केवल अन्तर्यामी ही देख सके।

सवेरे सुखलता ने उठकर देखा—हरी का वदन गरम है, और उसे ख़ूब ज्वर चढ़ा है।

(२)

पन्द्रह दिन हो गये। हरी रोग-शय्या पर पड़ा है। इस बीच में उसका ज्वर एक दिन के लिए भी नहीं उतरा। उसकी दशा दिन-पर-

पूर्व परिचित को मैंने प्रहरी के रूप में खड़ा पाया। वह हिन्दी का कवि है, लेखक है, सम्पादक है, प्रकाशक है। वह सब कुछ है और सर्वत्र व्याप्त है। मतलब यह है कि वह कोई व्यक्ति नहीं जिससे आपकी भेट हो सके। वह एक टाईप है जिसकी मूर्त्ति आप सर्वत्र खड़ी पायेंगे। उसका प्रकृत परिचय पाकर मैं आश्चर्य से अवाक् होकर रह गया। मनुष्य इतना अहमक़ हो सकता है इसका मैं ख्याल नहीं कर सकता! उस दिन मुझे जान पड़ा कि हम सभी में कोई न कोई ऐसी कमज़ोरी है, हम सभी किसी न किसी ऐसे एक ही रोग से ग्रसित हैं, जिसे हम एक दूसरे में बर्दाश्त ही नहीं करते, वरन् सदैव उस पर परदा डालने का प्रयत्न भी करते रहते हैं। यह कब तक होगा? साहित्य में इसे हम कब तक बर्दाश्त करेंगे? तीर्थ-क्षेत्रों में महन्तों और पंडों का एकाधिपत्य खतम होता जा रहा है। साहित्य-क्षेत्र में वह कब तक चलेगा? उसके खतम होने के दिन कब आयेंगे? हम सभी अपनी दुर्बलता से कब इतना ऊपर उठेंगे कि दूसरे की दुर्बलता हमारे लिए असह्य हो जाय? इतनी असह्य कि ग़ुस्से से हम चीख पड़ें, इतना कि दुनिया हमारी आवाज़ सुन सके। वह दिन कब आयेगा? मैं पूछता हूँ, कब?

परन्तु मैं अपने उन प्रकाशक महोदय को हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने मुझे मार्ग दिया।

गरौठा (झाँसी) कृष्णानन्द गुप्त

'वैसी ही है,' कहकर सुखलता मनोयोग-पूर्वक अपना कार्य करती रही।

इतने में हरी नेत्र खोलकर क्षीण स्वर में बड़बड़ाया—'महात्मा गाँधी की जय !'

इस नाम को सुनकर नौकरानी कुछ कहना चाहती थी। पर सुखलता ने बीच ही में कहा—'गेंदन की माँ, तुम जानती हो, यह महात्मा गाँधी कहाँ रहते हैं ?'

नौकरानी इस विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करके बोली—'मैं क्या जानूँ बहूजी ! जहाँ तुम, वहाँ मैं। सुनते हैं, बड़े महात्मा हैं। सिर्फ़ एक लँगोटी लगाकर रहते और दिन-भर चरखा कातते हैं। जब गाँव में आ रहे हैं, तब उनके दर्शन ज़रूर करूँगी बहूजी !'

सुखलता चौंककर बोली—'गाँव में कौन आ रहे हैं ? गाँधीजी ?'

नौकरानी ने आश्चर्य से मुँह बनाकर कहा—

'अरे ! पता ही नहीं, बहूजी ! इसका तो गाँव-गाँव में शोर है। उनकी अगवानी के लिए सड़कें साफ़ हो रही हैं, घर लिप-पुत रहे हैं, चन्दा इकट्ठा हो रहा है, और न-जाने क्या-क्या इन्तिज़ाम है।'

सुखलता बोली—'मुझे अपने घर की ही ख़बर नहीं, फिर बाहर की ख़बर लेने कौन जाता है ? तू देखती है, यहाँ से उठ नहीं पाती। तो गाँधी जी कब आ रहे हैं ?'

'आज से तीसरे दिन।'

'चले आवें। मुझे तो कुछ अच्छा नहीं लगता, गेंदन की मा !' कहकर वह आँचल से अपने नेत्र पोछने लगी।

एक ओर तीन युवक हैं। हट्टे-कट्टे और मज़बूत। चुपचाप बैठे हैं। उनकी छायादार टोपियाँ सूर्य के ताप से उनके चेहरों की रक्षा नहीं कर पातीं, क्योंकि सूर्य उनके सामने है। उनमें से एक की गोद में एक अल्पवयस्क बालक है। देखने में सुन्दर और सुकुमार। रौद्र के प्रखर ताप में उसका खिला हुआ चेहरा एक बार ही सूख गया है। हाथ में उसके तरबूज़ का एक टुकड़ा है, जिसे वह लुब्ध भाव से बार-बार चूस रहा है। एक युवक ने उसके सिर पर अपने कोट से छाया कर रक्खी है, पर वायु के वेग में वह एक जगह टिक नहीं पाता।

तीन व्यक्ति दूसरी ओर हैं। एक वृद्ध, एक युवती और एक अधेड़। युवती वृद्ध के निकट बैठी है, मानो किसी ने शिशिर के पार्श्व में वसन्त को बिठाल रक्खा है। वह रूपवती है। सुकुमार है। फिर भी प्रकृति को उस पर दया नहीं है। लू के गरम झोंके उसके मुँह पर तमाचे-से मार रहे हैं। सिर पर धूल जमी है। आँखें भूरी हो रही हैं। और, उस भूरेपन के भीतर एक ऐसी अव्यक्त निराशा और असीम करुणा छिपी हुई है कि देखकर आश्चर्य और कौतूहल होता है, साथ ही साथ बड़ी दया भी आती है। नियति ने निस्सन्देह उसे और उसके साथियों को धोखा दिया है, क्योंकि उनके गोरे शरीर भारतवर्ष की भयानक गरमी के लिए बने नहीं जान पड़ते।

कालपी के निकट पहुँच कर कोचवान ने घोड़ों की रास खींची। ग्रीष्म के प्रभाव से नगर के बाहर का पथ निर्जन बना हुआ है। दो-एक नगर-निवासी आ-जा रहे हैं। चौपहिया गाड़ी और उसमें बैठे यात्रियों



पुरस्कार

शिल्पी तल्लीन था सूर्यास्त का दृश्य देखने में। सूर्य उसके सम्मुख ही धीरे-धीरे डूब रहा था—उसके कितने निकट! मानो डूबने से वह उसकी रक्षा कर सकता था। पार्श्व में उसकी पत्नी खड़ी थी। उसकी दृष्टि थी नीड़ों में विश्राम पाने के लिए पश्चिम की ओर उड़े जा रहे पक्षि-वृन्द की ओर। यह लक्ष्य करके कि पति का ध्यान भी वहीं है वह बोल उठी, 'प्रियतम! यदि इन पक्षियों की भाँति हम भी उड़ सकते···इस सुनील आकाश में···!'

शिल्पी ने दृष्टि फेरी और मानो अपने आप ही कहा—'उड़ सकते···इन पक्षियों की भाँति!'

'हाँ, प्रियतम! फिर कैसा मज़ा होता! हम ज्यों-ज्यों ऊपर उठते, त्यों-त्यों पृथ्वी का विशाल अवगुण्ठन हमारे लिए खुलता-सा जाता। और फिर हम इतने ऊपर उठते, जहाँ से समस्त पृथ्वी को आकाश के नक्षत्र की तरह एक ही दृष्टि में समेट लेते।'

देखा, और मानो कहा—'अब क्या हो ?' फिर उस कोचवान को देखा। परन्तु इस एक क्षण के भीतर ही उसकी समस्या मानो हल हो चुकी थी। वह प्रसन्न था, और उस प्रसन्नता के भीतर जीवित जल मरने की दृढ़ता और पवित्रता प्रतिफलित हो रही थी। करीम के चेहरे के इस भाव ने उन लठैतों को संक्रामित किया। उनके दुर्बल हृदयों को बल और साहस प्रदान किया, उनके लिए उस जगह जीवित जल कर मर जाना सहज कर दिया। लठैतों ने अपने को सँभाल लिया। मृत्यु के पवित्र तट पर खड़े हुए उन तीन व्यक्तियों की निश्चल, मूक दृष्टियों ने अन्त समय तक एक दूसरे के प्रति सत्यशील बने रहने की शपथ-सी ले ली। और, यह कार्य चुपचाप सब के अनजान में ही सम्पन्न हो गया।

रस्से आगये। बीस के सामने चार की कुछ नहीं चली। बलवाइयों ने उन चारों को पेड़ से उलटा टाँग दिया। नीचे घास का ढेर रख दिया और आग लगा दी। ग्रीष्म ऋतु की प्रबल वेगवान वायु की सहायता पा कर घास तुरन्त धू-धू करके जल उठी। अग्नि की ज्वालाएँ उन चार व्यक्तियों के शरीर को क्रोड़ में भर कर ऊपर लपकीं। इमली के पत्ते झुलसने लगे, और उस वृक्ष के कोटरों में निवास करने वाले पक्षी त्रस्त-व्यस्त होकर इधर-उधर उड़ गये। नीचे से ऊपर तक धुएँ का घटाटोप छा गया। चार में से तीन व्यक्तियों के अधजले शरीर रस्सी जल जाने के कारण प्रज्वलित घास के ढेर में गिर कर भुनने लगे। मगर उन्होंने मुँह से 'उफ़' नहीं की।

शिल्पी ठुड्डी पर हाथ रख कर आकाश की ओर देखता रह गय
फिर धीरे-धीरे बोला—'यह तो कुछ असम्भव नहीं...।'

उसकी पत्नी हँसी से लोट-पोट होकर बोली—'हाँ, ठीक कहते हो ज़रूर कुछ असम्भव...नहीं !'

'निस्सन्देह असम्भव नहीं', शिल्पी ने कहा।

'पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना !'

'हाँ, जब पक्षी उड़ सकते हैं, तब मनुष्य को उड़ने के लिए क्या हुआ !'

उसकी पत्नी फिर हँसी से लोट-पोट हो गयी और बोली—'त चलो; हम दोनों उड़ चलें...'

परन्तु शिल्पी इस बार गम्भीर हो गया। वह सहसा सोचने ल आकाश में उड़ने की बात ! उसने अपनी पत्नी से कहा—'अच्छा मैं ए ऐसा आविष्कार करूँगा जिसकी सहायता से मनुष्य आकाश में पक्षी भाँति उड़ सकेगा। चिन्ता नहीं, यदि इसमें मेरा जीवन बीत जाय।'

और उसी दिन से वह आकाश में उड़ने का उपाय सोचने लै गया। वह घंटों घर की खुली छत पर बैठा रहता और सोचा करत किस प्रकार मनुष्य आकाश में पक्षी की तरह उड़ सकता है। कभी-कभ तो यन्त्रशाला में जाकर वह इतना कार्य-मग्न हो जाता कि और काम की उसे सुध ही न रहती। यहाँ तक कि राजा के यहाँ भी वह अकस समय पर नहीं पहुँच पाता। शुरू में तो उसकी पत्नी ने कोई बाध उपस्थित नहीं की, परन्तु जब एक दिन शिल्पी ने आकर कहा—'मुझे

घर में मीठे तेल का एक दीपक टिमटिमा रहा था। उसके अस्पष्ट प्रकाश में उसने दो चारपाइयाँ बिछी देखीं। एक पर एक वृद्धा लेटी थी, और दूसरी पर काली।

सुखदेव को महान् आश्चर्य हुआ। वह समझता था कि काली किसी अँधेरी कोठरी में बन्द पड़ी रो रही होगी, परन्तु वह स्वच्छ और मुलायम शय्या पर लेटी हुई सुख की नींद सो रही थी। उसने ध्यान से देखा, वह काली ही थी। निकट पहुँच कर उसने उसका हाथ झक-झोरा। वह चौंककर उठ बैठी और आँखें फाड़ कर अपने सामने देखने लगी। सुखदेव ने उसके मुँह पर हाथ रख कर कहा—'चुप! मैं सुखदेव हूँ। चलो बाहर!' काली के विस्मय का ठिकाना नहीं रहा। वह धीरे से उठ कर बाहर आयी और बोली, 'तुम यहाँ कहाँ?'

सुखदेव बोला—'पहले ऊपर की छत पर चलो।'

काली उसके साथ ऊपर की छत पर पहुँची। सुखदेव बोला, 'राजधर कहाँ है?'

'नीचे।' काली ने धीरे से कहा।

'अच्छा!' और वह ज़ीने की ओर मुड़ा।

काली ने पूछा, 'कहाँ जाते हो?'

सुखदेव ने संकेत से बताया कि डरने की आवश्यकता नहीं, वह राजधर का काम तमाम करने जा रहा है।

काली ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया।

'ऐसा मत करो।'

अपने आविष्कार के लिए पूरा समय चाहिए, मैं राजा की नौकरी छोड़ता हूँ,' तब उसने घोर विरोध किया।

परन्तु सब व्यर्थ। शिल्पी अपने निश्चय पर अटल था। उसने कहा—'मैं मनुष्य के लिए ऐसे डैनों का आविष्कार करूँगा, जिनकी सहायता से वह वायु के समुद्र में इस तरह तैर सकेगा, जैसे मछली जल में तैरती है।'

'पर गृहस्थी कैसे चलेगी?' उसकी पत्नी ने कहा।

'गृहस्थी! गृहस्थी की चिन्ता क्या? मैं राजा के पास जाता हूँ। वे मेरी सहायता करेंगे।'

और वह राजा के पास पहुँचा। उसने निवेदन किया—'महाराज, अब मैं आपकी यन्त्रशाला में यन्त्र नहीं बना सकूँगा। मैं एक ऐसा आविष्कार करना चाहता हूँ जो मनुष्य के लिए आकाश में चलना सुगम कर दे। उसके लिए मुझे समय चाहिए और धन भी। समय तो मेरे पास है। आप धन से मेरी सहायता करें।'

राजा ने कहा—'ये सब पागलपन की बातें हैं। यदि तुम्हें काम नहीं करना है, तो अपने घर का रास्ता लो। तुम्हारी छुट्टी है।'

शिल्पी तब नगर के श्रीमानों के पास गया; पर एक-एक करके सब ने उसे जवाब दे दिया।

तब उसकी पत्नी बोली—'अब क्या होगा?'

'कुछ नहीं। कष्ट तो होगा ही। मेरे कुछ यन्त्र हैं, यह घर है, तुम्हारे गहने हैं, इनसे काम चलाओ। तब तक मुझे सफलता मिल जायगी।'

डाक्टरनी भीतर से निकल आती हैं और मार्था की बात सुन कर कहती हैं—कुछ हर्ज नहीं, मार्था। इसे रकाबियाँ दे दो, और पेट भर के भोजन कराओ। समझीं।'

मार्था डाक्टरनी की आज्ञा का पालन करती है। भिखारिन भोजन करने बैठ जाती है, वह न जाने कब की भूखी है; परन्तु खाने में उसका मन नहीं लग रहा है। वह बार-बार बरामदे के दूसरे घर की ओर देखती है, जहाँ वह शिशु लेटा हुआ है। किसी तरह भोजन समाप्त करती, जल पीती, रकाबियाँ धोती और मार्था को अनेक धन्यवाद देती है। फिर वहीं बरामदे के कोने में जाकर बैठ जाती है। मार्था को गुस्सा आ जाता है। वह कहारिन के द्वारा उसे बरामदे से बाहर निकलवा देती है। भिखारिन बरामदे से नीचे उतर कर सड़क के किनारे बैठ जाती है; इस तरह, मानो वहाँ से उसे अब कोई उठा नहीं सकता।

दोपहर हुआ, और अब सन्ध्या हो रही है। डाक्टरनी ने देखा, भिखारिन जहाँ-की-तहाँ बैठी है। झुँझलाकर बरामदे में आतीं और कहती हैं—'तुम यहाँ क्यों बैठी हो?'

भिखारिन सजल, सकरुण दृष्टि से डाक्टरनी को देखकर कहती है—'कहाँ जाऊँ, माजी?'

डाक्टरनी की झुँझुलाहट दूर हो जाती है और वे निकट आकर पूछती हैं—'तुम्हारे घर नहीं है?'

'नहीं।'

टिकट के तुम्हारे दाम मैं दे दूँगा। समझे। और साथ ही मैंने उस सिपाही से, जो बराबर मेरी ओर देख रहा था, कहा—'आप बेफिक्र रहिये। यह जेबकट नहीं है। और होगा भी तो मैं भुगत लूँगा। और इसके दाम मैं दे दूँगा। उसकी भी तुम फिक्र मत करो।'

'मुझे फिक्र से कुछ मतलब ? आप जाने आपका काम जाने। मैं बरीउल ज़िम्मा हुआ। अगर कोई वारदात अब हुई तो आप ज़ुम्मेवार हैं।'

'हाँ, मैं ज़ुम्मेवार हूँ।'

सिपाही फिर कुछ नहीं बोला। वे दोनों मुसाफिर भी चुप थे और सामने जो आदमी बैठा था वह जग रहा था या ऊँघ रहा था, मैं ठीक कह नहीं सकता।

उस लड़के के लिए बेंच पर मैंने अपनी एक चादर बिछा दी। वहाँ वह लेट गया और लेटते ही, मैंने देखा, वह सो गया।

घड़ी में उस वक्त एक बजा था। नींद आ जाये तो अच्छा है। इस ख़याल से मैंने भी लम्बी तानी। सिपाही अब तक खामोश था। मगर यकायक उन दो मुसाफिरों से बोला—अजी जनाब सुनिये, अगले स्टेशन पर मैं तो उतर जाऊँगा। ज़रा खटके की नींद सोइयेगा। वरना कुछ उठ जाये तो आप जानें। बाबू साहब हैं, इनसे कौन झगड़ा करे। मगर ये भी याद करेंगे जब सुबह अपनी जेब टटोलेंगे।'

और उसके बाद मुझे लक्ष्य करके वह जाने क्या उन मुसाफिरों से कहता रहा। मगर मैं चुप रहा। और कब मेरी आँखें झप गयीं मुझे पता नहीं लगा।

अब शिल्पी का यह हाल हो गया कि वह महीनों अपनी कोठरी से बाहर न निकलता। कब सूर्योदय हुआ और कब सूर्यास्त, उसे जान तक न पड़ता। वह केवल देखता था डैने—ऐसे डैने, जिनसे मनुष्य पक्षी की तरह आकाश में उड़ सके।

एक दिन उसकी पत्नी भोजन लेकर जब उसके निकट पहुँची, उसने शिशु की भाँति आनन्द से किलकिलाते हुए कहा—'मेरी आधी कठिनाई दूर हो गयी। मुझे तरकीब मालूम हो गयी। उसे कार्य रूप में परिणत भर करना है। यदि मैं किसी प्रकार कृष्ण पारद को बाँध सकूँ, तो मनुष्य के लिए आकाश में उड़ना ऐसा ही सहज हो जाये, जैसा पक्षी के लिए।'

अब उसकी दृष्टि क्षीण हो गयी थी। हाथ काँपने लगे थे। शरीर में उठने का बल नहीं था। जान पड़ता था, वह अपने आविष्कार के लिए ही जीवन धारण किये है।

अन्त में एक दिन प्रभात-समय, जब बाहर दिनमणि की किरणें खिल रही थीं, उसने क्षीण उत्फुल्ल स्वर में अपनी पत्नी से कहा—'डैने बन गये और आज मैं इनकी परीक्षा करूँगा।'

वह डैने लगाकर बाहर निकला, और आश्चर्य! धीरे-धीरे वायु में ऊपर उठने लगा।

उसकी पत्नी अवाक् होकर देखने लगी। उसका पति आकाश में उड़ रहा था! वह आनन्द से नृत्य करने लगी।

जिसने देखा, वही आश्चर्य से स्तब्ध होकर रह गया। ख़बर महाराज के पास भी पहुँची। वह राजमहल की सबसे ऊँची अट्टालिका

की दो-तीन टोलियाँ घूम रही थीं। किसी के अलक्ष्य करों ने उनकी कोरों पर सोने का मुलम्मा कर दिया था। किन्तु शान्ता को रहस्यमयी प्रकृति के इस दृश्य को देखने का समय न था। उसकी गुड़िया का व्याह था। वह उसी को सजाने में लगी हुई थी। बाग़ में मौलसिरी का एक पेड़ था। शान्ता और मोहन सवेरे यहाँ खेलने आया करते हैं, यही सोच कर मानो यह पेड़ उतनी जगह को फूलों से सजा दिया करता था। माली उन्हें बीन कर लाया और शान्ता को दे गया। शान्ता फूलों को लेकर माला बनाने बैठी। माला बनायी जा रही थी, मोहन के गुड्डे के लिए। व्याह की रीति और रस्मों का पालन यथा-विधि हो रहा था, जैसा कि शान्ता ने एक दिन रामलीला में देखा था। शान्ता की जयमाला तैयार हो गयी, कन्या का शृङ्गार हो गया; किन्तु वर का अब तक पता नहीं। मोहन ने उस दिन ख़ास तौर से एक गुड्डा तैयार करवाया था; किन्तु मा ने अब तक बना कर नहीं दिया। सायत टली जाती थी। खेल में गड़बड़ होते देख शान्ता ने उस माला को मोहन के ही गले में डाल दिया और बोली, 'लो, गुड्डा नहीं आया, न सही। उसकी जगह हमारा-तुम्हारा व्याह हो गया।' यह कह कर शान्ता हँसने लगी। हास्य की उस धीमी लहर में उसको रामदास के खाँसने की आवाज़ सुनायी दी। दोनों घर के भीतर भाग गये।

वे दिन कैसे सुखमय थे जैसे कि स्वप्न! लड़कपन की वह नाव हँसी-खुशी की मौजों में वायु के हलके-हलके थपेड़े खाकर कैसे मज़े में चलती थी!

पर चढ़ गये और देखने लगे—शिल्पी डैने फैला कर उज्ज्वल नील गगन में उड़ रहा था, जैसे कोई सुनहला गरुड़ पक्षी। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। 'अद्भुत! अद्भुत!' कहते हुए वह नीचे उतरे और शिल्पी के घर की ओर चल दिये। मार्ग में जो मिला, वह भी उनके साथ हो लिया। शिल्पी के मकान के सम्मुख विशाल जन-समूह एकत्र हो गया। सब कोई कुतूहल और प्रशंसा-भरी दृष्टि से आकाश को देखने लगे, मानो वहाँ आज किसी नवीन ज्योतिष्क का उदय हुआ था।

शिल्पी अब नीचे उतरने लगा। उसे देखने के लिए भीड़ उमड़ पड़ी। महाराज उसकी अभ्यर्थना के लिए आगे बढ़े। उन्होंने कण्ठ से रत्नहार और हाथ से मणि-खचित स्वर्ण-वलय उतार लिये, शिल्पी को पुरस्कृत करने के लिए।

शिल्पी दर्शकों के सामने आ गया। वह धीरे-धीरे उतर रहा था, ठीक जैसे पक्षी आकाश से नीचे उतरता है। धरती पर उसके पैर जमने भी न पाये थे, कि महाराज ने आगे बढ़कर उसे हाथों पर ले लिया और गद्गद् होकर कहा—'धन्य हो तुम! और धन्य है हमारा यह देश, जहाँ तुम जैसे शिल्पी ने जन्म लिया! हम सब तुम्हारी संवर्द्धना करने यहाँ आये हैं।'

यह कह कर उन्होंने रत्नहार आगे बढ़ाया। दर्शकों ने पुष्प-वर्षा की, परन्तु शिल्पी उनकी गोद में निस्पन्द था—मुँह बन्द, आँखें खुली हुईं, और श्वास का नाम नहीं।

अपराधी

बुदल की पत्नी को आज सातवीं लंघन थी। वैद्य ने कल पथ्य देन को कहा था। उसके लिए पंचकोल की आवश्यकता थी। किन्तु गाँव में कोई पंसारी नहीं था! इसलिए पंचकोल लेने के लि उसे निकट की बस्ती में जाना पड़ा। बस्ती वहाँ से तीन मील दूर थ वह घर से दो पैसे लेकर चला था। वे दो पैसे उसने अपने एक पड़ो से आध सेर ज्वार के बदले में लिये थे! निस्सन्देह पंचकोल के लिए बहुत थे।

बस्ती में पहुँचकर उसकी दृष्टि हलवाई की दूकान पर पड़ी। अपनी आठ वर्ष की कन्या पार्वती की याद आ गयी। वह जब व बस्ती आता तब पार्वती के लिए खाने की कुछ चीज़ अवश्य ले जात इसके अतिरिक्त आज वह कई दिनों बाद बाज़ार आया था। उ सोच लिया कि वह पंचकोल एक ही पैसे का लेगा। एक पैसे की उ जलेबियाँ ले लीं। दो से भी कुछ कम आयीं। उसके बाद पंसारी दूकान से पंचकोल की पुड़िया लेकर वह घर चल दिया।

शेष पैंतीस

इस समय पचासी के ऊपर हूँ। एक तरह से मृत्यु के निकट हूँ। न जाने कब सन्देश आ जाय और कब चल देना पड़े। इसीलिए जाने से पहले अपने जीवन की एक घटना सुना देना चाहता हूँ। वह घटना हो नहीं पायी। होते-होते रह गयी। यदि हो जाती तो आज मुझे उसके सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता न पड़ती। किन्तु जब जीवित हूँ तब उसे लिख कर रख जाने में हर्ज़ ही क्या है?

अच्छा तो ग़दर के दिन थे। वे दिन मैं ने अपनी आँख से देखे हैं। इतिहास चाहे जिन शब्दों में उनका वर्णन करे किन्तु मैं स्मरण-मात्र से काँप उठता हूँ। कैसे भीषण दिन थे! नेत्रों के सम्मुख सदा मृत्यु की विभीषिका नृत्य किया करती थी। वायु के कण-कण से रक्त-पात, अत्याचार, उपद्रव और प्रपीड़न की गन्ध आती थी। हम लोग रात्रि में सोते नहीं थे कि कहीं बाग़ी सिर न काट ले जायँ; दिन में बहुत सजग हो कर चलते थे। पत्ता खड़कता तो चौंक पड़ते। प्रति पल

ऐसा प्रतीत होता कि किसी बाग़ी की गोली अब आयी और हमारा सिर धड़ से अलग हो गया। हो गया या नहीं, यह देखने के लिए हम वास्तव में अपना सिर टटोल लेते थे।

उस समय मेरी अवस्था सोलह वर्ष की थी। पिता नहीं थे। घर में अकेली माँ थीं। वे मुझे बाग़ियों के डर से बाहर नहीं निकलने देती थीं। जब कभी दूर जंगल में तोप का धड़ाका होता तो मुझे छाती से चिपटा लेतीं। इस तरह मैं क्रान्ति का वास्तविक रूप देखने से बहुधा वंचित रह जाता। बाहर लूट-खसोट होती, लोग चिल्लाते, गुहराते, किन्तु मैं माँ के स्नेह-जनित भय के आवरण को भेद कर बाहर न निकल पाता।

एक दिन की बात है। मैं भोजन कर के बैठ ही रहा था। इतने में बाहर किसी ने कुंडी खटखटायी। मेरा हृदय धक् से हो गया। माँ बरतन माँजना छोड़ कर मेरे पास आ गयीं। कुंडी फिर खटकी। अब की बार कुछ ज़ोर से। मैंने भय छोड़ कर डपट कर कहा, 'कौन है?' आवाज़ आयी 'खोल, खोल हम हैं।' आवाज़ बहुत बारीक और करुण थी। मैं तुरन्त कुंडी खोलने उठा। माँ मना करती रहीं, किन्तु मैंने कुंडी खोल दी। उधर से दरवाज़े में धीरे से आघात लगा। मैंने किवाड़ पूरा खोल दिया; किन्तु दूसरे क्षण चौंक कर एक क़दम पीछे हट गया। मेरे सामने एक मेम थी। उन दिनों हम साहबों की औरत से मेम ही कहा करते थे। यद्यपि यह बात मुझे बाद में मालूम हुई है कि यह शब्द मैडम का अपभ्रंश है।

मेम हाँफ रही थी। नंगे सिर थी, बाल बिखरे हुए थे। स्पष्ट था कि दौड़ती आ रही थी। मुझे देखते ही बोली, 'बाग़ी है बाग़ी। मुझे छिपा लो।'

मैंने उसे एक बार ऊपर से नीचे तक देखा। वह व्याधि-ग्रस्त हरिणी की भाँति काँप रही थी। उसकी सजल करुण दृष्टि से मेरा हृदय पानी-पानी हो गया। मैंने उसे भीतर ले लिया और किवाड़ बन्द कर दिये। उसे देख कर माँ का विस्मय से अभिभूत हो जाना स्वाभाविक था। मेम उनके पैरों पर गिर पड़ी और कातर स्वर में बोली, 'माँ मुझे अपने घर में रख लो। मुझे बचा लो, नहीं तो बाग़ी मुझे मार डालेगा।'

उसकी बातों से मालूम हुआ कि वह पन्द्रह-बीस गोरे सिपाहियों के एक दस्ते के साथ गाँव की तरफ़ आ रही थी। सहसा बाग़ियों का आक्रमण हुआ। तीन-चार सिपाही मर गये। शेष ने भाग कर अपने प्राण बचाये। पलातकों में से एक वह भी थी। उसकी यह विपत्ति-कहानी हमारे लिए नयी थी और सान्त्वनाप्रद भी। क्योंकि हमें यह पहली बार मालूम हुआ कि बाग़ी केवल गोरों को मारते हैं और उसके बदले में गोरे जिसे पाते हैं उसे मार डालते हैं।

माँ ने उस कृस्तान युवती को अपने घर में स्थान दे दिया, यह कह कर मैं अपनी माँ की प्रशंसा नहीं करना चाहता, किन्तु इससे नारी के प्रति नारी-हृदय की असीम समवेदना का परिचय अवश्य मिलता है। उन्होंने उसे सान्त्वना देकर बैठाया; पानी पिलाया। फिर रात्रि में सोने के लिए अच्छा स्थान भी दिया। वास्तविक बात तो यह है कि

उस स्त्री के प्रति हमारा बड़ा आकर्षण हुआ और हम लोगों ने उसे बड़े यत्न से अपने घर में रखा।

गुड़ुम! गुड़ुम!! गाँव के बाहर तोपों के धड़ाके से दिशाएँ काँप उठीं। फिर हम लोगों की बात ही क्या थी। गाँव भर में उथल-पुथल मच गयी। किसी ने कहा, 'अँगरेज़ हैं।' किसी ने कहा, 'मरहठे हैं।' किसी ने कहा, 'बाग़ी हैं।' किन्तु कोई हम लोगों को भूनने, मारने, काटने आया अवश्य है, यह निश्चित था। सब लोग भाग खड़े हुए। पलक मारते गाँव का गाँव ख़ाली हो गया। किन्तु मुझे भागने में कुछ देर लगी। मैं अपनी माँ को नहीं छोड़ सका और माँ उस गोरी स्त्री को। गोरी स्त्री माँ के कण्ठ से लगाकर करुण क्रन्दन कर रही थी और कह रही थी, 'आह! मुझे बचा लो, बाग़ी तुम्हें नहीं मारेगा। वह तुम्हारे देश का है। मगर मुझे देखते ही मार डालेगा।'

हमने उसे समझाया। जैसे-तैसे वह बाहर निकली, किन्तु उसका गाउन, और उसके ऊँची एड़ी के जूते पग-पग पर उसके चलने में बाधा उपस्थित कर रहे थे। फलतः नाले तक पहुँचते-पहुँचते हमारा उसका साथ छूट गया। नाला पार करके जब हमने पीछे देखा तब वह नज़र नहीं आयी। लाचार होकर हम लोग उसकी चिन्ता छोड़कर आगे बढ़े चले गये।

सामने घना वन था। मैंने उसी में प्रवेश करके रात्रि व्यतीत करने का संकल्प किया। किन्तु माँ ने नहीं माना। उन्हें उस अँधेरे वन में भूत का अधिक भय था या तेंदुए का, मैं नहीं कह सकता। किन्तु उनके

पकड़ लिये। मैंने प्रतिरोध करना चाहा। किन्तु बन्दूक़ के एक कुन्दे के प्रबल आघात ने मुझे शान्त कर दिया।

गोरे हमें बन्दी करके अमराई के उस पार ले गये। वहाँ हमने सौ से अधिक गोरे देखे। उनके साथ तोपें भी थीं। वहाँ हम दोनों एक पेड़ से बाँध दिये गये और रात भर बँधे रहे।

सवेरे एक गोरा हम दोनों को खोल कर कैम्प से कुछ दूर मैदान की ओर ले चला। हमने समझा, हमें शौचादि के लिए छुट्टी मिलेगी। किन्तु मैदान का दृश्य देखकर हमारे हाथ-पैर फूल गये। वहाँ हमें इस जगत से ही छुट्टी दे देने का आयोजन हो रहा था। दो तोपें लगी थीं। तोपों के मुहरों से कुछ दूर कई आदमी बँधे पड़े थे। पास जाकर देखा वे हमारे ही गाँव के आदमी थे। मेरी तरह भागते समय गोरों के हाथ पड़ गये थे। उस समय उन्हें देखकर मैं किसी से राम-राम भी न कर सका। मैंने मुसकराने की चेष्टा की। किन्तु मौत के भय से मेरी हँसी भी मुमूर्ष-सी हो रही थी। माँ चुपचाप आँसू बहा रही थीं। गोरों ने हम दोनों को—माँ और पुत्र को—एक साथ बाँध कर उसी ढेर में डाल दिया।

मैंने गिनकर देखा। हम कुल मिलकर सैंतीस आदमी थे। सभी चुप थे। सभी के चेहरों पर विषाद की रेखा अङ्कित थी। फिर भी मृत्यु मनुष्य को दार्शनिक बना देती है। मुझे रोते देखकर एक वृद्ध बोला, 'वाह भैया राजधर! रोते क्यों हो? इस तरह एक साथ मिलकर मरना तीर्थ में मरने के बराबर है। मिल कर हम सभी स्वर्ग में चलेंगे।'

उसकी बात सुनकर मुझे हँसी आ गयी। आँसू पोंछ डाले। किन्तु हृदय फिर भी धक्-धक् हो रहा था। माँ चुपचाप सिकुड़ कर पड़ी थीं। मैंने उनकी ओर देखना और बोलना बन्द कर दिया था। अपना और अपनी माँ का ऐसे भीषण रूप से अन्त होते देखकर मुझे मन ही मन दारुण सन्ताप हो रहा था। तोपों से उड़ाये जायँगे! ओफ़! फिर विलम्ब किस बात का था? निस्सन्देह मृत्यु की अपेक्षा मृत्यु की प्रतीक्षा भीषण होती है। हमारा हृदय अभी से अवसन्न हुआ जा रहा था। प्रति पल हम तोपों की ओर देखते थे। उनके दो अन्धकारमय मुँह रहस्यमयी मृत्यु के दो कोटर जान पड़ते थे। उनके पीछे एक गोरा खड़ा हुआ था। शायद अपने अफ़सर के आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

हम सब पर मृत्यु की छाया पड़ चुकी थी। सभी प्रसन्न वदन थे। जानते थे कि जब मरना है, हँसते-खेलते ईश्वर का नाम लेते क्यों न मरें। अफ़सर आ गया था। उसके साथ दो-तीन गोरे सिपाही थे और एक मेम थी। तोपों में बारूद पहले से भरी थी। मैंने क्षण भर के लिए उस मेम को देखा। फिर आँखें मीच लीं। मृत्यु में एक ही दो पल की देर थी। मैं प्रतीक्षा करने लगा। एक-दो-तीन—किन्तु बड़ी देर तक कुछ नहीं हुआ। तब मैंने जी कड़ा करके आँखें खोलीं। शायद अभी देर थी। क्योंकि वह अफ़सर गोरे सिपाहियों और मेम समेत हमारी ओर आ रहा था। मैंने मेम को तुरन्त पहचान लिया। वही थी जिसने बाग़ियों के आक्रमण से त्रस्त होकर मेरे घर में आश्रय ग्रहण किया था और जो कल सन्ध्या को मुझसे विच्छिन्न होकर शायद अपने साथियों

को मिल गयी थी। सहसा उसने मुझे देखा। निस्सन्देह वह भी मुझे पहचान गयी। कुछ काँप-सी गयी। तुरन्त मेरी ओर संकेत करके अत्यन्त कातर भाव से अपने साथी अफ़सर से अँगरेज़ी में कुछ कहने लगी। उसकी बात सुन कर अफ़सर ने मेरी ओर देख कर एक गोरे से कुछ कहा। उस समय मुझे पसीना छूट रहा था। गोरा मेरे निकट आया और मुझे और मेरी चेतनाहीन माँ को बन्धनमुक्त करके घसीट कर दूर ले गया। मुझे समझते देर न लगी। किन्तु घटना इतनी जल्दी और ऐसे अप्रत्याशित रूप से घटित हुई कि मैं सहसा उस पर विश्वास नहीं कर सका। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो किसी ने मुझे मृत्यु की अन्तिम सीढ़ी से बल-पूर्वक झटका देकर जीवित लोक में खींच लिया हो। मेरे सभी साथी विस्मित होकर मेरी ओर देख रहे थे। अवश्य मेरे बाद अपने छुटकारे की प्रतीक्षा में थे। मुझे भी यही आशा थी। किन्तु, फ़ायर! तोपों पर बत्ती पड़ने के साथ ही मेरी आँखें मुँद गयीं। धड़ाके से वायु-मण्डल काँप उठा। उस धड़ाके के साथ मेरे सभी साथी रुई के गाले की तरह दूर तक उड़े चले गये। सबके सब स्वाहा हो गये। किन्तु अपने को जीवित पाकर मेरा मन न जाने कैसा हो गया। मैं बड़ी देर तक वहाँ खड़ा रहा। सोचता रहा, इन पैंतीस के साथ मैं भी क्यों नहीं मर गया।

इस घटना को हुए बहत्तर साल हो गये हैं। किन्तु अब सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ। यदि मैं मर जाता तो विप्लव की वेदी पर पूरे छत्तीस की जो बलि होती उसकी कहानी कौन लिखने बैठता?

'नित्य ही देखता हूँ।'

'तू उसे प्यार करता है ?'

'मेरी देवी जानती हैं।'

इस प्रश्नोत्तर से वोंगा के पिता का मन भर गया। उसने मूँगी के पिता से कहा—

'मेरा पुत्र भी तुम्हारी कन्या को चाहता है। विवाह मुझे मंज़ूर है। दहेज कितना दोगे ?'

'मेरे पास तो केवल लड़की है। फिर जितना बन पड़ेगा दूँगा।'

'कितना दोगे ?'

'धान की एक खत्ती और दो बैल।'

'नहीं, दो खत्ती, पाँच बैल और दो भैंसें।'

'अच्छा, एक खत्ती, दो बैल, एक भैंस।'

'इतना तो काफ़ी नहीं है।'

'तो फिर विवाह नहीं होगा।'

'जैसी तुम्हारी मर्ज़ी।'

मूँगी का बाप अपने घर चला गया। वोंगा के पिता ने अपने पुत्र से कहा—'बेटा मूँगी के साथ तुम्हारा विवाह नहीं होगा। दहेज अपनी वंश-मर्यादा से बहुत कम है। हम तुम्हारे लिए मूँगी से अच्छी लड़की ढूँढ़ेंगे।'

परन्तु वोंगा एकाएक इस बात का निश्चय न कर सका कि मूँगी बड़ी है या वंश-मर्यादा। उसने कहा—'मूँगी से अच्छी लड़की कहाँ है ?'

'वहुतेरी हैं।'

पर बोंगा के मन को सन्तोष नहीं हुआ। वह केवल सोच रहा था—'मूँगी से अच्छी लड़की भला कहाँ होगी?' परन्तु पिता की आज्ञा का उल्लङ्घन कैसे किया जा सकता था? इसलिए दूसरे दिन मूँगी के मिलने पर उसने कह दिया कि विवाह नहीं हो सकेगा, क्योंकि हमारा पिता राज़ी नही है।

सुन कर मूँगी वेचारी अपने घर चली गयी।

(३)

जहाँ बोंगा का घर है उससे एक मील दूर कोलों की एक और वस्ती है। वहाँ एक विवाह योग्य लड़की है। बोंगा का पिता उसे देख आया है। लड़की सुन्दर है। पिता कन्या-दान के लिए राज़ी है। दहेज में धान की दो खर्चीं और दस बैल देगा। बोंगा के पिता को इससे सन्तोष हो गया। उसने बोंगा को बुला कर कहा—'मैंने तेरे लिए लड़की ढूँढ ली है।'

बोंगा पहले तो चुप रहा। फिर बोला—

'कहाँ है?'

'उस गाँव में।'

'उसका नाम क्या है?'

'पुंखी।'

'वयस कितनी है?'

'जितनी तू चाहता है।'

'रूप कैसा है ?'

'मूँगी से अच्छा है।'

'गुण में कैसी है ?'

'यह जाकर तू देख आ।'

पिता की आज्ञा से बोंगा उसी दिन लड़की देखने गया। वह उसे पसन्द आ गयी। घर आ कर उसने पिता से कहा—'मैं पुंखी से विवाह करूँगा।'

पुत्र की बात सुन कर पिता ने उसी समय पंचों को जमा किया। विवाह के लिए पूर्णिमा का दिन निश्चित हुआ। कन्या के पिता के पास समाचार भेज दिया गया और विवाह का आयोजन होने लगा।

पूर्णिमा आने पर दोनों ओर आमोद की सीमा नहीं रही। कन्या के पिता ने बड़ी धूम-धाम से दहेज सौंपा। पंचों ने उसे मंजूर कर लिया। तब कन्या अपनी सखी-सहेलियों के साथ नाचती-गाती वर के घर की ओर चली। इधर वर गाजे-बाजे के साथ गाँव के निमन्त्रित बालक-बालिकाओं तथा युवक-युवतियों से घिरा हुआ कन्या को लेने चला। बीच मार्ग में दोनों दल मिल गये। वहीं आमोद-प्रमोद और नाच-गान होने लगा। सब एक पेड़ के नीचे एकत्र हो गये। रात भर नाच-गान होगा। खूब आनन्द है। खूब मौज है। वर कन्या का हाथ पकड़ कर नाचने लगा। लोग उन दोनों को घेर कर नाचने गाने और ढोलक बजाने लगे, पर वर के चेहरे पर नृत्य का आनन्द क्यों नहीं !

एक वृद्ध ने उन दोनों के हाथ में शराब से भरा एक-एक प्याला दिया। उसने कन्या को समझाया—'तुम अपना प्याला आधा पी कर वर को दे देना।' इसी प्रकार उसने वर से कहा—'तुम अपना प्याला आधा पी कर कन्या को दे देना।' बस, दोनों का विवाह हो जायगा। उनका यही कुलाचार है।

वोंगा ने शराब का प्याला हाथ में ले कर ऊपर उठाया। पर वह उसे होठों से लगाना भूल गया। बात यह हुई कि उसने युवतियों के बीच में मूँगी को बैठे देखा। मूँगी के नेत्रों से आँसुओं की धार बह रही थी, जैसे वायु का झोंका लगने से शिशिर-सिक्त कमलिनी से ओस झरती है। वोंगा एकटक हो कर उसे देखता रहा। फिर सहसा अपने पिता से बोला—

'पिता, वह देखो मूँगी रो रही है।'

सब ने मूँगी को देखा। वह फूट-फूट कर रो रही थी। सब कोई उससे रोने का कारण पूछने लगे। परन्तु मूँगी तो आँखों से अजस्र आँसू गिरा रही थी।

तब वोंगा ने कहा—'पिता, पुंखी का रूप सुन्दर है। पर मूँगी का मन बहुत सुन्दर है। वह मेरे लिए रो रही है। मैं उसी से विवाह करूँगा।' यह कह कर उसने अपने हाथ का प्याला होठों से लगाया और मूँगी के पास जा कर बोला—'लो पियो, अरे अब क्यों रोती हो?'

मूँगी ने गट गट कर के प्याला रीता कर दिया। उसके शोकाश्रुओं में आनन्द झलक आया और वह उठ कर बोंगा के साथ नाचने लगी।

यह काण्ड देख कर कन्या-पक्ष के लोगों ने लड़ने के लिए लाठियाँ उठा लीं। तब आत्म-रक्षा के लिए वर-पक्ष के लोग भी उठ कर खड़े हो गये। दोनों पक्षों में घमासान लड़ाई होने लगी। कई आदमी घायल हुए। विवाहोत्सव का मज़ा किरकिरा हो गया। पर मूँगी के हृदय में आनन्द की जो रागिनी बज उठी थी, आज उसकी तुलना कहाँ है?

हड़ताल

हड़ताल बड़ी भयानक वस्तु है। बिलकुल छूत की बीमारी और तपेदिक़ की तरह लाइलाज। इस देशके गोरे हाकिमों का कम-से-कम यही अनुभव है।

हड़ताल एक मानसिक रोग है विचित्र प्रकार का। कुछ रोग होते हैं, जिनका निरन्तर अध्ययन करते रहने से कालान्तर में विद्यार्थी स्वयम् उनका शिकार बन जाता है। हड़ताल ऐसी ही चीज़ है। यदि आपको एक बार अपने आसपास इसके भयंकर कीटाणुओं की उपस्थिति का सन्देह हो गया, और यदि आप उन आदमियों में से एक हुए, जिन पर इसका आक्रमण होता है, तो फिर लाख प्रयत्न करने पर भी आप इसके सर्वग्रासी कवल से अपनी रक्षा नहीं कर सकते।

अभी कल की बात है। जी० आई० पी० रेलवे के कर्मचारियों की हड़ताल हो गयी। बीमारी बम्बई से फैली। फिर क्या था? प्लेग की चाल तो बहुत धीमी होती है, परन्तु हड़ताल एक ही दिन में सर्वत्र फैल गयी। कृपालु अधिकारी बड़े चिन्तित हुए, मगर बेचारे करते क्या? इस

बीमारी के नाम से ही उनके यहाँ के अच्छे-से-अच्छे तजुर्बेकार डाक्टरों के हाथ-पैर ढीले पड़ जाते हैं। फिर भी उन्होंने अपने आदमियों को इस घातक बीमारी के चंगुल से बचाने की भरसक कोशिश की। कर्मचारियों को अपने आसपास इसके कीटाणुओं की गन्ध न आने पाय, इस प्रयत्न में उन्होंने अपना सारा कौशल और शक्ति ख़र्च कर दी। 'अजी, पागल हुए हो! कहाँ है हड़ताल? हाँ, कहनेवाले झूठे। बिलकुल झूठे। कहीं नाम तक नहीं फिर तुम क्यों हड़ताल-हड़ताल चिल्लाते हो? इसका ख़्याल करने से ही दिमाग़ ख़राब हो जायगा। फिर बे-मौत मर जाओगे। और अगर ज़िन्दा भी रहे. तो न घर के रहोगे, न घाट के। इसलिए इसका ख़्याल छोड़ो और मज़े से अपना काम किये जाओ।' फिर भला, ऐसा कौन मूर्ख होगा, जो हड़ताल की इस विभीषिका से एक बार परिचित हो जाने पर उसका चिन्तन करें और इस प्रकार व्यर्थ में अपने लिए एक असाध्य बीमारी मोल ले।

स......स्टेशन के कर्मचारियों ने अधिकारियों की नेक सलाह को माना। इसी वजह से वे अब तक इस बीमारी से बचे रहे, परन्तु दुर्भाग्य की बात, रात को बारह बजे कोई आया—बुरा हो उस शख़्स का—और उनसे कह गया कि उनके नज़दीकी स्टेशन प.....के कर्मचारियों में हड़ताल फैल गयी है। बस, एकदम सब के दिमाग़ फिर गये। वे करते क्या? यह बीमारी ही ऐसी है। कम्बख़्तों ने अपने कान भी बन्द नहीं किये। घंटे भर के भीतर सब को हड़ताल लग गयी। चार बजे सुबह पैसेंजर आने का वक्त हुआ। म.....स्टेशन से ख़बर आयी। 'गाड़ी

छोड़ा !' छोटे बाबू ने सिगनल-मैन को पुकारा—'करीम ! ओ ! करीम !!' कोई नहीं बोला। फिर बुलाया—'ओ ! ओ हरिदास ! ओ खुल्लाई ! ओ ! ज्वाला ! ओ ! ओ !!!' छोटे बाबू की इस चिल्लाहट से स्टेशन के देवता जाग पड़े, परन्तु हड़ताल रोग-ग्रस्त व्यक्तियों की बेहोशी दूर न हुई। तब तक पैसेंजर ट्रेन ने भी सिगनल के पास रुक कर अपनी तेज़ और बारीक चीत्कार द्वारा स्टेशन के कर्मचारियों को जगाने में छोटे बाबू की सहायता की, परन्तु व्यर्थ ! क्रोध से बाबू जी का मुँह लाल हो गया। बड़बड़ाते हुए कमरे से बाहर निकले। चारों तरफ़ सन्नाटा—प्लैटफ़ार्म के लैम्प बुझे हुए, जैसे कि हमेशा रहते हैं। क्षण-भर में बाबूजी की समझ में सब आ गया। 'अच्छा, कम्बख़्तो !' उस समय हड़ताल-ग्रस्त उन कर्मचारियों के प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करने के लिए इससे अच्छे शब्द उनके पास नहीं थे। ट्रेन चिल्ला-चिल्ला कर अपना गला और साथ ही निस्तब्धता का हृदय फाड़े डाल रही थी। उस भयानक शीत में सी-सी करते हुए बाबूजी ने लालटेन हाथ में ली, ओवरकोट पहना, रज़ाई ओढ़ी और तीन फर्लांग के फ़ासले पर रूठ कर खड़ी हुई, पैसेंजर ट्रेन को मना कर लिवा लाये। रास्ते-भर हड़ताल को कोसते और इस रोग के चंगुल में फँस जाने वाले अभागों की कुशल मनाते आये।

सवेरे बड़े बाबू ने आश्चर्य और क्रोध से स्तम्भित हो कर सारा क़िस्सा सुना। आश्चर्य इस बात का कि हड़ताल के बीज कहाँ से आये। क्रोध इस बात का कि कर्मचारियों ने उनका कहना नहीं माना। वे एक

दफ़े उनकी हालत देखने गये भी, परन्तु बीमारी को असाध्य समझ कर निराश और दुःखी हो कर लौट आये। छोटे बाबू से कहा—'इन बदमाशों को मरने दो। कितना समझाया, परन्तु नहीं माने। अब वैसा भुगतेंगे।' और डी० टी० एस० को इस बात की सूचना दे कर कि यहाँ के सब कर्मचारी स्ट्राइक के शिकार हो गये हैं, उन्होंने चार नये आदमियों को बुलाने का प्रबन्ध किया।

उनका एक कहार था। स्टेशन से एक मील दूर एक छोटे गाँव में रहता था। सवेरे ही काम पर आ जाता था। बाबूजी ने उसे बुला कर कहा—'हरू, तुम अपने गाँव से चार आदमी ला सकते हो?'

'क्यों नहीं? जितने कहिये उतने। आज कल मज़दूरों का क्या टोटा है।'

'तो लाओ।'

'किस लिए चाहिए, बाबूजी?' हरुआ ने प्रश्न किया।

'तुझे इससे क्या? तुझसे जो कहा गया है, सो कर। सिर्फ़ चार आदमियों की ज़रूरत है। अभी चाहिए।'

'जो हुकुम।'

हरुआ गया और एक घंटे के भीतर अपने साथ चार आदमियों को ले कर आ गया। एक काछी, दो चमार, एक कोरी। वह उनकी स्थिति जानता था। भूखों मरते थे। किसी दिन एक जून भी भर पेट भोजन मिल जाय तो ग़नीमत समझो।

चारों ने आ कर बाबूजी को राम-राम किया। दीन-दुर्बल काया, तन पर फटे हुए मलिन वस्त्र; शुष्क और श्रीहीन चेहरे। प्रभात-वेला के स्निग्ध प्रकाश में आपको ये मूर्त्तियाँ बड़ी ही करुण और दयनीय जान पड़तीं। बाबूजी ने इसका ख़याल न कर के पूछा—'तुम लोग काम करोगे?'

'हाँ, अन्नदाता।' आगे खड़े हुए वृद्ध ने हाथ जोड़ कर उत्तर दिया। वह चमार था। नाम था नन्हें।

बाबूजी ने कहा—'अच्छी बात है। आज ही से करना होगा।'

उसी वृद्ध ने कहा—'तैयार हैं। क्या काम करना है, अन्नदाता?'

'झंडी दिखाना, लालटेन जलाना, माल उतारना-चढ़ाना—यही काम है और क्या।'

'कितने दिन का काम है?'

'कितने दिन का क्या? हमेशा की नौकरी है।'

चारों के नेत्र उत्फुल्ल हो गये, जैसे प्रकाश का सन्देश पा कर कमल खिल उठता है। वृद्ध ने पूछा—'क्या स्टेशन पर और नौकरों की ज़रूरत हुई है?'

'हाँ, ज़रूरत क्या! चार आदमी नौकरी से अलग कर दिये गये हैं। बदमाश, हरामख़ोर, रात-भर पड़े-पड़े सोते रहते हैं। उनकी जगह दूसरे आदमी रक्खे जायँगे। अगर तुम लोग मुस्तैदी से काम करोगे, तो सात दिन बाद नौकरी पर बहाल कर दिये जाओगे।'

'अन्नदाता, मिलेगा क्या?'

'सेर-भर आटा, छटाँक-भर दाल, आधी छटाँक घी और छै आने पैसे रोज़।'

'फ़ी-आदमी ?'

'हाँ, यह सात दिन तक मिलेगा, फिर हिसाब से माहवारी तनख़्वाह मिलेगी।'

यह तो आशा से बहुत अधिक था। सात दिन भरपूर ख़ुराक़ और नक़द पैसे अलग। भूख से जलते हुए पापी पेट के लिए ऐसी सुन्दर व्यवस्था का पूर्वाभास पा कर एक बार कुबेर का हृदय भी आनन्द से नृत्य करने लगता। फिर यदि बूढ़े की आँखें, जिसके घर में दो दिन से चूल्हा नहीं जला था, हर्षातिरेक से उद्दीप्त हो कर फटने पर आ जायें, तो इसमें आश्चर्य की बात ही कौन सी थी ? उसने गद्‌गद हो कर कहा—'आप की जय हो, अन्नदाता। हम तो आप के पैरों की जूती हैं। आधी रात को हुकुम दें, तो सिर के बल काम करने को तैयार हैं।' वृद्ध ने फिर बाबूजी की ओर देख कर कहा—'तो बैठ जायँ ?'

'हाँ, तुम सब को रात में भी यहीं रहना पड़ेगा।'

'जो हुकुम। हमें तो जहाँ खाने को मिले, वहीं घर है।'

'अच्छा, यहीं बैठो। कहीं जाना मत।' बाबूजी ने फिर कहा—'देखो, तुम लोग किसी की बातों में मत आना। चुपचाप अपना काम करना। कुछ काम नहीं। गाड़ी को झंडी दिखाना, लालटेन जलाना और रात भर पड़े-पड़े तमाखू पीना। बस, इतना काम है। बदमाशों से यह भी नहीं होता। कामचोर कहीं के! कहते हैं तनख़्वाह बढ़ा दो।

अरे, तनख़्वाह तो तभी बढ़ेगी न, जब मालिक को खुश रक्खोगे, अच्छा काम करोगे, और ईमानदारी से करोगे। या तुम्हें कोई मुफ़्त में ही बीस रुपया माहवार दे देगा? बोलो, भाई, मैं ठीक कहता हूँ या नहीं?'

'हाँ, मालिक आप ठीक कहते हैं।'

चारों आदमी स्टेशन-मास्टर की आज्ञा पा कर आफ़िस के सामने बैठ गये। अब वे स्टेशन पर नौकर हो गये।

(२)

दोपहर को किसी प्रकार डाक गाड़ी निकली। बड़े बाबू एक आदमी को साथ ले कर स्वयम् ही सिगनल गिरा आये। लाइन-क्लीयर भी उन्हीं को लेना पड़ा। इसके बाद मालगाड़ी की चख-चख से छुट्टी मिली। इस बीच में छोटे और बड़े बाबू दोनों ने काम पर आये हुए नये आदमियों पर कड़ी नज़र रक्खी। कहीं किसी हड़ताल के रोगी से उनका स्पर्श न हो जाये! अथवा उन्हें कोई यह समाचार न दे जाय कि स्टेशन पर हड़ताल फैली है। परन्तु कुशल हुई कि बारह बजे के बाद प्लेटफार्म पर किसी ने पैर नहीं रक्खा। स्टेशन की यह निर्जनता उन्हें और उनके साथियों को बहुत उद्विग्न और चिन्तित करने लगी। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि स्टेशन के सब आदमी कहाँ गये? क्या सभी निकाल दिये गये? अथवा यहाँ कुल जमा चार ही आदमी नौकर थे? वे एक ऐसे आदमी की खोज में थे, जिससे दो-चार बातें की जायँ, अथवा जिसके साथ एकाध चिलम फूँकी जाय, परन्तु बाबूजी ने उन्हें इधर-उधर जाने से मना कर दिया। इस बन्धन का अर्थ उनकी समझ

'नौकरी कैसे चली जायगी ? डेढ़ लाख आदमियों की हड़ताल है। कार किसे-किसे अलग करेगी ?'

स्त्री सहज रोषयुक्त स्वर में बोली—'ये नाशमिटे जो आ गये हैं।'

'कौन ?'

'ये जो रोटी बना रहे हैं, और कौन ?'

'इन बेचारों ने क्या किया है ?'

'किया कैसे नहीं है। हत्यारे हैं ससुरे ! आ गये यहाँ काम करने। हे नहीं सोचा कि पराई रोज़ी मारने से नरक में भी ठिकाना नहीं लेगा।'

'अरे, इतना हल्ला क्यों करती हो। आ गये होंगे। पेट ऐसी ही ोज़ है।'

'तो हमारे भी तो पेट है। हमारे भी तो बाल-बच्चे हैं।'

'होगा, दो दिन न खाने से भूखों न मर जायँगे।'

'मगर तुम्हारी इस हड़ताल में कुछ लक्षण भी हों !'

'न होने दो।'

स्त्री ने कुपित हो कर कहा—'तुम्हारी तो मति मारी गयी है। मेरा हा मानो। बादल देख कर घड़ा न फोड़ो। काम पर जाओ। इन ादमियों के आ जाने से कहीं तुम्हें नौकरी से हाथ न धोना पड़े।'

'क्या ! काम पर जाऊँ ? यह तो मुझसे सात जनम में भी न ोगा। नौकरी चाहे जाय या रहे, पर अपने साथियों को धोखा नहीं ूँगा।'

नन्हें ने चकित और स्तम्भित हो कर इस कथोपकथन का एक-एक शब्द सुना। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया, परन्तु यह समझने के लिए अधिक बुद्धि की आवश्यकता नहीं हुई कि बात-चीत उसी के सम्बन्ध में हो रही है। इतने में पीछे से किसी ने बुलाया—

'कौन है?'

'मैं हूँ।' कह कर नन्हें ने घूम कर पीछे देखा। एक प्वाइन्ट्स्मैन था। वह बाज़ार से कुछ सौदा ख़रीद कर लौट रहा था। नन्हें का उत्तर पा कर उसने कहा—'तुम कौन?'

'स्टेशन पर काम करने आये हैं।'

प्वाइन्ट्स्मैन सहसा खिलखिला कर हँस पड़ा। उस हँसी का आघात पा कर वृद्ध नन्हें का हृदय काँप गया। प्वाइन्ट्स्मैन ने फिर कहा—'यहाँ किस लिए खड़े हो?'

'थोड़ा सा नमक चाहिए।'

'हा! हा!! हा!!!' प्वाइन्ट्स्मैन ने अट्टहास किया। फिर नन्हें के पास आ कर बोला—'तुम्हें शरम नहीं आती, बुढ़ऊ?'

नन्हें ने अकचका कर कहा—'कैसी शरम?'

'वाह! कहते हो कैसी शरम? बाल सफ़ेद होने को आये। फिर भी तुमने कुछ सोचा नहीं। हम लोगों ने तो हड़ताल की और तुम काम पर आ गये!'

'हड़ताल! बाबूजी ने तो कहा है कि तुम लोग नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिये गये हो।'

'वर्ख़ास्त ! ख़ूब कही ! हम लोगों ने स्वयम् ही नौकरी छोड़ दी है। चौबीस घंटे कोल्हू के बैल की तरह काम में जुते रहते हैं और मिलते हैं दस रुपये ही, जिनसे अकेला हमारा ही पेट नहीं भरता, फिर क्या बाल-बच्चों को खिलायें, क्या औरत को दें और काहे से तिथि-त्यौहार मनायें। ऐसी नौकरी से तो मजूरी करें, सो अच्छा। सरकार को यही बताने के लिए रेलवे के सब नौकरों ने हड़ताल कर दी है। मगर तुम्हारे मारे ठिकाना पड़े, तब तो। हम तो अपनी रोटियों के लिए सरकार से लड़ाई लड़ रहे हैं और तुम हमारे ख़िलाफ़ सरकार की मदद करने आ गये। देखो, है न बुरी बात, मगर तुमसे क्या कहें। ईश्वर तुम्हें समझेगा।'

यह कह कर प्वाइन्ट्स्मैन पास के घर में घुस गया।

नन्हें कुछ भी नहीं कह सका। जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। उस समय यदि उसके ऊपर पहाड़ टूट पड़ता, तो भी शायद वह अपने को सँभाल लेता, परन्तु यह प्वाइन्ट्स्मैन तो उसे अपनी बातों से एक बार ही कुचल कर चलता बना। होश आने पर वह उस जगह से हटा और अपने साथियों के सम्मुख पहुँचा। पहले उसने अपनी रोटियाँ समेटीं।

एक ने उसे देखते ही पूछा—"बड़ी जल्दी आये ! नमक कहाँ है ?'

बूढ़े ने मानो कुछ नहीं सुना। वह अपनी धुन में कह रहा था—'राम ! राम ! ऐसी नौकरी ! ला रे सरदेवा, इधर ला सब रोटियाँ। ला रे मंगला इधर ला। ऐसा नमक कौन खायेगा !'

बूढ़े के साथियों ने इसे प्रमाद समझा। वे अवाक् और आश्चर्य-चकित होकर उसकी ओर देखने लगे। बूढ़े ने एक साथ सबकी रोटियाँ समेट कर कहा—'चलो, चलो, भगवान ने बचा लिया। नहीं तो सचमुच नरक में भी जगह न मिलती।' यह कह कर वह लाइन पार करके प्लेटफ़ार्म पर पहुँचा और सीधा बड़े बाबू के आफ़िस में घुस गया। रोटियाँ उनकी मेज़ पर फेंक कर बोला—"लीजिये बाबूजी ये रोटियाँ, मुझे ऐसे सताबे का अन्न नहीं खाना। मैं चला।"

बड़े बाबू उस समय कन्ट्रोलर से बातचीत कर रहे थे। उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो टेलीफोन में कोई गड़बड़ी आ जाने से उनके कान के परदे को विद्युत का आघात लगा हो। उन्होंने बूढ़े की बात कुछ तो समझी और कुछ नहीं समझी। उसे मेज़ पर रोटियाँ फेंकते देख कर क्रोध से प्रज्वलित होकर बोले—'क्या करता है, बदमाश!'

परन्तु बूढ़ा चला गया और बाबूजी अपने स्थान पर इस तरह खड़े रहे, मानो स्टेशन की सारी इमारत उनको लेकर रसातल में धसकती जा रही हो।

सहपाठी

हिन्दी टॉकी मुझे बिलकुल ही पसन्द नहीं। और जब पाँच मिनट के भीतर ही मुझे पन्द्रह गाने सुनने को मिले, तो मेरा क्रोध पागल होने के निकट पहुँच गया। यह कौन थूलमथूल लड़की है, जो अनाज की गड्डी पर इस तरह मचक रही है, जैसे कोई रबड़ का बोरा हो। यह किसान की लड़की नहीं है, और सब कुछ हो सकती है। इसके हाव-भाव मुझे ज़रा भी पसन्द नहीं। यह खींच कर इसने गुल्ला मारा, और वहाँ से हाय-हाय, मरे-मरे, की आवाज़ आयी, जैसे रामबाँस पर मौथरी आरी चल रही हो और उसके बाद ही यह फिर गीत!

गुल्ले की चोट से एक आदमी ज़मीन पर पड़ा तड़प रहा है, जैसे पानी के बाहर मछली तड़पे और सधे हुए गले से एक मीठा करुण गीत भी गा रहा है। गुल्ला बेचारे के ठीक उस जगह जाकर लगा, जहाँ हृदय के किसी निभृत कोने में उसके मन का समस्त कवित्व और सङ्गीत मूर्छित पड़ा था। गुल्ले के आघात से वह सब मानो खलबला कर बाहर निकल पड़ा। मुझे उस पर दया आयी। सहसा मैं उठा,

और अपने मित्र से बोला—'भाई, माफ़ करो। मेरे सिर में दर्द हो उठा है। मैं घर जाऊँगा।' और इसके पहले कि वह मुझे रोकने का प्रयत्न करे, मैं सिनेमा-घर के बाहर था।

माथे पर ठंडी हवा लगी और बिजली के तेज़ प्रकाश ने आँखों को धक्का दिया। दो-एक ताँगे खड़े थे। परन्तु मैं पैदल ही जाना चाहता था। सहसा पीछे से किसी ने आवाज़ दी—'अरे, केशव!' मैं सचमुच घबरा गया। मैंने समझा मेरी मित्र-मंडली में से कोई सज्जन उठकर आये हैं और मुझे भीतर ही घसीट ले जायँगे। परन्तु यह था मेरा पुराना सहपाठी पन्नालाल उर्फ़ पन्नू। यह कमबख़्त यहाँ क्या कर रहा है? तमोली की दूकान पर से उसने मुझे देख लिया, परन्तु अपनी तेज़ी में मैं उसे नहीं देख सका था। वह तमोली की जगह पर बैठा था और सामने पान बिछे हुए थे। मैंने हँस कर कहा—'कहो जी, तमोली की दूकान कर ली है?'

'हाँ! हाँ, देखो, कैसे बढ़िया पान तुम्हें लगाकर देता हूँ।'

'ख़ूब! तमोली कहाँ चला गया?'

'तुम्हें तमोली से मतलब, या पान से। खेल देखने आये हो? तारीफ़ तो बहुत है इस खेल की!'

मेरे बदन में आग लग गयी। मैंने कहा—'मेरा बस चले, तो जिसने यह खेल लिखा है और जिसने इसे डाइरेक्ट किया है, उन दोनों को ऐसा झकझोरूँ, ऐसा कि फ़िल्म तैयार करना भूल जायँ। कला-फला तो गयी भाड़ में, इन लोगों ने तो सुरुचि और विवेक को भी उठाकर रख दिया है।'

'तुमने ठीक कहा। कुछ फ़िल्में तो बहुत रद्दी आती हैं। यहाँ की अच्छी-से-अच्छी फ़िल्म समझो दो कौड़ी की होती है, और अच्छे से-अच्छे अभिनेता कभी-कभी ऐसा उपहासजनक नाट्य करते हैं कि उनके सम्बन्ध में भ्रम होता है, जिन्दगी में उन्होंने ताँगा ही हाँका है।'

ऐसे कड़े शब्दों में जब उसने हिन्दी की बोलती फ़िल्मों का विरोध किया, तो मुझे शान्ति मिली। मैंने कहा—'एकाध बार तो ऐसा भी हुआ कि मिस लीला या मिस सुरीला के मुँह से बिल्वमङ्गल की जगह बिल्वामङ्गला सुन कर मैं हँसी से लोट-पोट हो गया हूँ और अठन्नी वसूल हो गयी। मगर आज मुझे ग़ुस्सा हो आया और उठकर चला आया। घर जाऊँगा। कहो, मज़े में तो हो। तुमने इन्टरमीजियेट तो कर लिया था? क्या करते हो आजकल?'

'इन्टरमीजियेट! अजी जनाब, सेकंड क्लास बी० एस्-सी० हूँ, बी० एस्-सी०। विश्वास न हो, तो सर्टिफ़िकेट दिखा सकता हूँ। इलाहाबाद युनिवर्सिटी की पक्की मुहर और रजिस्ट्रार के सच्चे दस्तख़त!'

'बी० एस्-सी० कब कर लिया?'

'इसी साल।'

'फिर अब क्या करने का इरादा है?'

'कुर्सी पर बैठो, तो बात करूँ। यहाँ तो अब खेल नहीं हो रहा है। या यों ही खड़े रहोगे? लो, ये पान। ठहरो। पहले सोडा पी लो। अच्छा, लैमन दूँ? लैमन बाद में पीना। उस ख़ोनचेवाले को बुलाऊँ? कुछ खाओगे? आलू की टिकिया? पकौड़ी? कुछ मिठाई? अरे ओ!'

मैंने कहा—'अजी, तुम किस परेशानी में पड़े हो। तुम तो इस तरह मुझे इस तमोली के पान देने को तैयार हो, जैसे दूकान तुम्हारी ही हो। तुम यहाँ बैठे कैसे ? तमोली से तुम्हारी दोस्ती है क्या ?'

'अजी, दोस्ती क्या। मेरा पड़ोसी है। कमबख़्त घर गया है और इस जगह मुझे बिठाल गया। जानते हो, दूकानदारी ऐसी ही चीज़ है। हालाँकि इस वक़्त कोई गाहक नहीं है। मगर गाहक और मौत का क्या ठीक ? न जाने कब आ जाय। इसी ख़याल से मुझसे बैठे रहने को कह गया और अब तक वापिस लौटने का नाम नहीं ले रहा है। कहो, देसी पान पसन्द है कि बँगला। यहाँ लोग ज़्यादातर बँगला पान पसन्द करते हैं। वह कुछ चरपरा होता है। यह भी एक स्वाद है। मगर देसी की कुछ बात ही और है।'

मैंने देखा, वह पान के विषय पर धारा-प्रवाह वक्तृता दे सकता है और यदि मैं उसे टोकूँ नहीं, तो भगवान् जाने, वह कहाँ जाकर रुकता। मैंने कहा—'तमोली की दूकान पर बैठते ही उसकी आत्मा मानो तुम में प्रवेश पा गयी, जैसे उस टीले में गुण था कि उस पर बैठने से गड़रिये का लड़का राजा वीर विक्रमाजीत की तरह दूध-का-दूध और पानी का-पानी करने की अद्भुत बुद्धि पा जाता था। ठीक है, भाई, जगह का गुण ही ऐसा होता है। मगर तुम यह क्या कर रहे हो ? मैं पान नहीं खाऊँगा। अच्छा, खा भी लूँगा। मगर नया लगाने की ज़रूरत नहीं। यह जो तमोली लगाकर रख गया है, उसी में से एक उठा दो।'

'वे पान सूख गये हैं भाई, और धूल भी उन पर गिरी है। कुछ हर्ज नहीं। देखो तो, कैसा लज़ीज़ पान है। कभी तुमने खाया न होगा।'

'तुम ठीक कहते हो। मैं पान कभी नहीं खाता। मगर मेहरबानी करके कत्था-चूना ज़रा हिसाब से लगाना। नहीं तो वह मसल कि 'नाई का लड़का बाल बनाना सीखे और सिर कटे दूसरों का।' तुम तो पड़ोसी की दूकान चलाने की ग़रज़ से पान लगाने बैठो और धज्जियाँ उड़ें मेरी जीभ की।'

'कैसी बातें करते हैं जनाब!'

'अच्छा, अच्छा, मैं केशव हूँ और लो, ये बैठ गया कुर्सी पर। जब कोई गाहक आवे, तो उससे कहना जनाब और हुज़ूर और जो जी में आवे, सो। हाल-चाल तो तुमने कुछ सुनाया ही नहीं। कहो, घर में तो सब चैन-चान है? कहीं नौकरी का भी डौल लगा? आजकल तो बड़ी मुश्किल है।'

'लो, ये पान। तुम्हें मेरी क़सम सच बताना, कैसा लगा। तुमने बहुत तमोलियों के पान खाये होंगे, मगर ऐसा पान तुम्हें न मिला होगा। महोबे का पान है। तनिक ठोकर लगे, तो पापड़ की तरह चूर-चूर हो जाता है और मुँह में कैसा लुआब बनता है, ज़रा देखो।'

मैंने पान लिया और मुँह में रक्खा। साथ ही खन से एक पैसा उसके सामने बिछे पीतल के तख़्ते पर फेंक दिया। मगर पन्नू तो ऐसे उचका, मानो गाज गिरी हो!—'अजी वाह, घंटे-भर से कमबख़्त का इन्तज़ार कर रहा हूँ, तो क्या मुझे इतना भी अख़्तियार नहीं कि अपने

'तो चाय मँगाऊँ ? उसका भी यहाँ इन्तज़ाम है। हाँ, तो दरख़्वास्त दी और नियत तारीख़ को कलक्टर के यहाँ मेरी पुकार हुई। किस तरह गया, क्या हुआ, यह सब सुन कर क्या करोगे ? ठाठ से, बढ़िया सूट पहन कर गया था। मगर कचहरी में पहुँचते ही मेरा मन न जाने कैसा हो गया। कचहरी का प्रत्येक चपरासी, वहाँ का प्रत्येक मुंशी, वहाँ का प्रत्येक वकील मानो मुझे ही घूर रहा था, और मैं उन सबसे बचने की कोशिश कर रहा था। तुम समझ गये हो मेरी अवस्था। बी० एस्-सी० पास करके पन्द्रह रुपये की नौकरी तलाश करने आया हूँ। किसी को मालूम हो, तो क्या कहेगा ? मुझे थूकेगा या मेरी उस डिगरी पर लानत भेजेगा।...अच्छा, एक दूसरा पान लो, वह थूक दिया है तो।'

'दस बजे से दो बजे तक इन्तज़ार करना पड़ा। पुकार अब होती है, अब होती है और मैं तब तक इधर-उधर चक्कर काटता रहा। दो-चार जान-पहचान के वकील मिले। 'कहो भाई, कैसे आये ?' 'कुछ नहीं। ज़रा यों ही काम था।' और उनको टरका दिया। चार बजे पुकार हुई और मैं कलक्टर के सामने पेश हुआ। तीस-चालीस उम्मेदवार और थे। सबसे पहले मेरी बारी आयी। पेशकार से मिलके पिताजी ने ऐसा ही इन्तज़ाम कर दिया था।'

'तुम बी० एस्-सी० हो ?'

मैंने सिर हिलाया, और उस जगह ख़ूब ज़ोर देकर इस बात को स्वीकार नहीं कर सका कि मैं बी० एस्-सी० हूँ।

'तुमने हिन्दी-मिडिल पास किया है ?'

'नहीं ।'

'उर्दू-मिडिल ?'

'नहीं ।'

'तुमको यह जगह नहीं मिलेगी । जाओ ।'

और जैसे अदालत का सारा कमरा मेरे सामने घूम गया । मेरा सिर घूम उठा । मैंने चीख़कर उस कलक्टर को बताना चाहा कि मैं बी० एस्-सी० हूँ । तुम्हारी युनिवर्सिटी का बी० एस्-सी०, मगर जीभ से तालू से चिपक गयी । दूसरे उम्मेदवार की पुकार हुई और चपरासी ने मुझे बाहर चले जाने का इशारा किया । और जगह होती, तो मैं उस चपरासी को ठोकर भी मार सकता था । परन्तु उस समय मेरी कैसी अवस्था थी, मैं कह नहीं सकता । सबकी नज़रों से बचता हुआ बाहर निकला, और सीधा घर आया । जानते हो, क्या किया ?'

'सूट में दियासलाई लगा दी, और सर्टिफ़िकेट फाड़कर फेंक दिया ?'

'बड़े गधे हो तुम ! सूट का मूल्य था मेरे लिए पचपन रुपया, और पिताजी ने उस सर्टिफ़िकेट की क़ीमत दी थी अपने जीवन की गाढ़ी कमाई से । आठ-दस हज़ार उसके दाम तो होंगे ही । सूट उतारकर रख दिया, डिगरी पिताजी को सौंपी ।'

'और उसके बाद ?'

'उसके बाद देखते नहीं, पान-बीड़ी की यह दूकान मैंने खोली है । कैसे मौक़े की जगह है ! बहुत मुश्किल से मैनेजर ने यह जगह मुझे

यहाँ दी है। अच्छी बिक्री होती है । सर्टिफ़िकेट हमेशा अपनी जेब में रखता हूँ। जानते हो क्यों ? यह सर्टिफ़िकेट मेरे लिए यहाँ की समस्त युनिवर्सिटियों और वहाँ से प्रति वर्ष निकलनेवाले ग्रेजुएटों का प्रतीक है कि वे मुझे देखें, अपना मूल्य समझें और अपने सिर धुनें। इसमें मुझे आनन्द आता है और इस दूकान का मुझे कितना गर्व है यह तुम्हें न बताऊँगा।'

इस पन्नू की गप-शप में ही नौ बज गये। वहाँ से जब मैं चला, तो बोला—'देखो भाई, जब सिनेमा देखने आओ, तब यहाँ पान ज़रूर खा जाया करो।'

डाका

-:०:-

अगहन का महीना था। रात्रि के आठ बजे होंगे। हम लोग तहसील-कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर में बैठे हुए आगामी वर्ष के कार्यकर्ताओं और पदाधिकारियों का चुनाव कर रहे थे। एक सज्जन अपने स्थान पर उछल-उछलकर ज़ोरदार शब्दों में कह रहे थे—'अजी, मेरी बात भी सुनोगे या नहीं। सभापति महाशय, मैं सेठ झबारीलाल को आगामी वर्ष का सभापति चुने जाने का प्रस्ताव पेश करता हूँ।' सभापति महाशय कुछ कहने के लिए मुँह खोलना ही चाहते थे कि झबारीलालजी बोल उठे—'नहीं भाई, मैं इस लायक़ नहीं। सभापति के लिए तो कोई सच्चरित्र आदमी होना चाहिए। मैं खद्दर नहीं पहनता।' बाज़ार के तीन-चार नवयुवक चिल्ला उठे—'वाह! यह कैसे हो सकता है? तुम हरगिज़ इनकार नहीं कर सकते। हम लोग जब कह रहे हैं, तब तुम्हें सभापति बनना पड़ेगा।'

पास ही नवयुवक-दल के मुखिया विजयबहादुर बैठे थे। वह इस हुल्लड़ को देखकर उत्तेजित हो गये। उन्होंने सभापति की ओर हाथ

(२)

सब लोग गली से बाहर निकल कर बाज़ार की सड़क पर पहुँचे। किसी ने भाला लिया, किसी ने डंडा लिया, किसी ने किरच ली; मगर बन्दूक़-जैसी ख़तरनाक चीज़ किसी के घर में नहीं निकली। बाज़ार के लोग उस समय दूकानें बढ़ा कर कुछ तेज़ी से घरों की तरफ़ जा रहे थे। एक बजाज़ ने कहा—'बाबूजी, पुलिस इन्सपेक्टर को तार दे दो!' उसकी बौखलाहट देख कर यह जान पड़ा, मानो डाका उसी के घर पड़ रहा हो।

विजयबहादुर घर के भीतर अपना मिर्ज़ापुरवाला मोटा डंडा खोज रहा था। नवयुवकों की भीड़ ने आवाज़ लगायी—'विजयबहादुर, क्या कर रहे हो? जल्दी चलो।'

'अभी आया।'

मगर भीड़ उतावली हो रही थी। नवयुवकों के दिलों में बहादुरी का समुद्र उमड़ रहा था।

आख़िर विजयबहादुर बाहर निकला। उसके हाथ में सात फ़ीट ऊँचा एक मोटा लठ था। उसे कन्धे पर रखते हुए उसने कहा—'चलो, एक-एक को बिछा न दिया, तो मेरा नाम विजयबहादुर नहीं।'

नवयुवकों का दल सपाटे से चल दिया। विजयबहादुर सबसे आगे था। पीछे से दारोग़ाजी भी आये। वह अपने एक सिपाही के साथ तेज़ी से आगे बढ़ गये। बरौल वहाँ से एक मील था। मार्ग में रेलवे स्टेशन पड़ता था। स्टेशन-मास्टर ने दूरदर्शिता से काम लेकर अपने बाल-बच्चों को मालगाड़ी के एक डिब्बे में भर दिया था, और स्वयम् बन्दूक़ लेकर

डाकुओं पर फ़ायर करने की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। भीड़ ने उनसे नहर के पुल तक साथ चलने को कहा। परन्तु वह ड्युटी पर थे, और स्टेशन नहीं छोड़ सकते थे।

दारोग़ाजी भीड़ में ही रहे या आगे निकल गये, यह किसी ने नहीं देखा। नवयुवकों का दल बढ़ गया था, और उनका जोश भी बढ़ रहा था।

गाँव बिल्कुल क़रीब था। सभी कोई सोच रहे थे—'बस, डाकुओं को अब लिया।'

सामने नहर का पुल आ गया। भीड़ उसके निकट पहुँची ही थी कि एक फ़ायर हुआ। विजयबहादुर पूरा क़दम नहीं उठा सका। वह जहाँ-का-तहाँ थम कर रह गया, और उसके पीछे आदमियों की सारी भीड़ ज़मीन में गड़-सी गयी। कई कण्ठों ने एक साथ कहा—'क्या है, रुक क्यों गये?' किसी ने कहा—'दारोग़ाजी, ओ दारोग़ाजी!'

विजयबहादुर पुल के दूसरे छोर पर एक छाया देख रहा था। उसने दाएँ-बाएँ दृष्टिपात किया। दोनों ओर नहर का काला जल किसी विशाल चिर-निद्रित अजगर की भाँति दूर तक फैला हुआ था।

इतने में दूसरा फ़ायर हुआ। इस बार भीड़ में सन्नाटा छा गया। विजयबहादुर ने कहा—'ठहरो यार, नहर के उस पार जाने का कोई मार्ग खोजना चाहिए।'

'क्यों खोजना चाहिए?' यह पूछने की ज़रूरत नहीं हुई। पुल पर से आगे बढ़ना सोलहो आने असम्भव था, क्योंकि सामने डाकुओं के दल का आदमी मोरचा बाँधे खड़ा था।

विजयबहादुर बाईं ओर को मुड़ा। नवयुवकों का दल उसके पीछे चला। सौ क़दम चलने पर बड़ी मुश्किल से एक जगह नहर में नीचे उतरने का मार्ग नज़र आया। विजयबहादुर ने कहा—'चलो भाई, उतरो।'

'हाँ, हाँ, चलो।' पीछे से सबने ख़ूब अविचलित भाव से उत्तर दिया।

विजयबहादुर नीचे उतरा। नहर के जल को स्पर्श करके उसने कहा—'बाप रे! पानी तो बड़ा ठंडा है!'

'और नहर बहुत गहरी है!'

'रात का वक़्त है।'

'सुनते हैं, एक मगर भी है।'

'ऐसे में उतरना महज़ बेवक़ूफ़ी है।'

नवयुवकों का दल बड़े पशोपेश में पड़ गया। क्या करें, और क्या न करें? उस पार गाँव में एक व्यक्ति लुट रहा था, और वे उसकी रक्षा का उपाय नहीं खोज पा रहे थे।

दो फ़ायर और हुए, फिर सन्नाटा छा गया। आध घण्टे की ज़बर्दस्त दौड़-धूप और गम्भीर सोच-विचार के बाद नवयुवकों का दल पुनः पुल के पास आया। सब ने अन्धकार में नेत्र गड़ा-गड़ा कर सामने देखा। पीछे वालों ने हिम्मत दिखायी। कुछ नवयुवकों ने अपने लठ सँभाल कर कहा—'अजी चलो, गोली ही न लगेगी, और क्या होगा?'

विजयबहादुर निराशा से खिन्न होकर बोला—'जान पड़ता है, वह भाग गया है।'

सब लोग एक स्वर में चिल्ला उठे—'कहाँ ? कहाँ ? पकड़ो ससुरे को। जायगा कहाँ।'

'चलो ! चलो !!'

सब कोई अन्धकार में डाकू को पकड़ने के लिए दौड़े। मगर वह नज़र नहीं आया। तब कुछ लोगों ने कहा—'इसके साथी तो होंगे; चलो शिवूमाते के यहाँ जल्दी।'

सब कोई हाँफते हुए घटना-स्थल पर पहुंचे। पता चला कि डाकू बन्दूक का पहला फ़ायर होते ही भाग गये, और साथ में शिवूमाते की तिजोड़ी तोड़ कर ढाई हज़ार का माल भी लेते गये। नवयुवकों का दल इस समाचार को सुन कर बहुत दुःखी और निराश हुआ, तथा शिवूमाते की पत्नी और उसकी माता को समझा-बुझाकर बस्ती को लौट आया।

माता का हृदय

किशोरी बरामदे में बैठी सिर नीचा किये सूने हृदय से एक पोथी के पन्ने उलट रही थी। इतने में अपनी पड़ोसिन हरदेई को आँगन में प्रवेश करते देखकर उसने पोथी अलग रख दी और बोली, 'आओ, बहिन, बैठो।'

हरदेई अपनी गोद के बालक को सँभालती हुई नीचे बैठ गयी। थोड़ी देर दोनों चुप रहीं—किशोरी अन्यमनस्क और हरदेई अपने बालक के हाथ में लगी मिट्टी छुड़ाने में व्यस्त। अन्त में वह बोली, 'बहिन, बड़ा बुरा हुआ।'

किशोरी चुप रही। उसने एक ठंडी साँस ली, पर यह हरदेई ने न देखा।

हरदेई बोली, "ईश्वर पर किसी का क्या वस, बहिन। भाग्य में जो लिखा होता है वही मिलता है।'

किशोरी फिर भी चुप रही। सौ में निन्नानवे व्यक्ति शोक-सन्तप्त हृदय को सान्त्वना देने आकर उलटे शोक को नया बना जाते हैं। हरदेई भी उन्हीं में से एक थी।

'उसे क्या हो गया था, वहिन ?' उसने पूछा।

'क्या जाने क्या हो गया था।'

'तो किसी ने देखा तक नहीं ?'

'देखा क्यों नहीं। दिन भर तो कुछ नहीं, दूसरे दिन......'

'राम ! राम ! कोई दवा-दारू नहीं की ?'

हरदेई की गोद का वालक उस समय अपने नन्हें-नन्हें हाथों से माता का अंचल पकड़ कर खींच रहा था। किशोरी ने उसी की ओर देख कर कहा, 'की क्यों नहीं।'

'फेरन को बुलाया था ?'

फेरन हरदेई के पड़ोस का कोरी था। गाँव के समस्त देवी-देवता उसके वस में थे।

किशोरी ने कहा, 'नहीं।'

'फिर ?'

'डाक्टर आया था।'

'हाय ! तभी तो। इन डाक्टर ससुरों से भगवान बचावे। तुममें इतनी बुद्धि न हुई वहिन, कि कहीं प्रसूति के वालक को दवा खिलायी जाती है।'

किशोरी एक दीर्घ निश्वास लेकर रह गयी। वालक ने इस समय अपनी माता का अंचल खींचने में यथेष्ट सफलता प्राप्त कर ली थी। वह उसे मुँह में देने का उपक्रम कर रहा था। यह देख कर हरदेई ने उसकी पीठ पर धम्म से एक घूँसा जमा दिया।

किशोरी बोल उठी, 'ऐसा मत मारो, वहिन ! ठौर-कुठौर लग जायगा।'

'अरे, वह इसके लिए बड़ा पक्का है। दिन भर पिटता रहता है।'

हरदेई के मारने से बालक को चाहे चोट न लगी हो, फिर भी वह एक बार किशोरी की ओर देख कर सहसा ज़ोर से क्रन्दन कर उठा। किशोरी ने तुरन्त हाथ फैला कर कहा, 'मेरे पास आ।'

किशोरी से यद्यपि बालक का यह प्रथम परिचय था, किन्तु नन्हें शिशु प्रेम की भाषा समझते हैं। वह तुरन्त उसकी गोद में चला गया। किशोरी ने उसे चुमकार कर छाती से लगा लिया।

हरदेई बोली, 'वह भी अभी दस-बारह दिन का हो जाता।'

किशोरी ने कहा, 'हाँ, बहिन।'

'हाय! दो दिन भी गोद का सुख नहीं लूट पाया।' हरदेई बोली।

किन्तु किशोरी इस समय बालक को लेकर मग्न थी। 'अहा! कैसा सुन्दर मुखड़ा है! कैसे नन्हें हाथ-पैर हैं! कैसा नन्हा-सा मुँह है! कैसी बड़ी आँखें हैं! वह भी ऐसा ही था···इससे भी अधिक सुन्दर···फूल-सा सुन्दर···।' सहसा उसने कहा, 'हाय, बड़ा ढीठ है! बाल खींचता है।'

बालक उस समय वास्तव में किशोरी के व्यथित हृदय की वेदना का अनुभव न करके मज़े से उसके बाल पकड़ कर खींच रहा था।

हरदेई ने कहा, 'कुछ न पूछो, बहिन, बड़ा ऊधमी है। इसीसे उन्होंने इसका नाम बन्दर रख छोड़ा है।'

किशोरी उसे दोनों हाथों से उठा कर और चुमकार कर बोली, 'क्यों रे बन्दर!' वह मुसकरायी, जिस प्रकार मुरझायी हुई जुही मुसकराती है। फिर उसने कहा, 'कितने दिनों का हो गया, बहिन, साल भर का?'

'अभी कहाँ ! मुश्किल से आठ महीने का होगा।'

'बड़ा स्वस्थ है।'

'हाँ, रोज़ गाय का ताज़ा दूध……'

इतने में बाहर किसी के पैरों की आहट सुनायी पड़ी। हरदेई ने हड़बड़ा कर कहा, 'बहिन चलूँगी।'

किशोरी ने बहुत कुछ कहा। किन्तु कालीचरण के आने के पूर्व ही हरदेई अपने बालक को गोद में लेकर लम्बा-सा घूँघट काढ़ कर बाहर निकल गयी।

किशोरी जैसी की तैसी सिर नीचा किये बैठी रही। स्वामी ने उसे इस प्रकार आँगन में बैठा देख कर कहा, 'क्या है किशोरी ?'

'कुछ नहीं', कह कर उसने स्वामी की ओर देखा।

परन्तु उसके कण्ठ स्वर से ही कालीचरण को पता चल गया कि कुछ बात अवश्य है। वह किशोरी के निकट पहुँचे और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर बोले, 'किशोरी ! तुम इतनी उदास क्यों हो ?'

किशोरी कुछ नहीं बोली, वह क्षण भर तक स्वामी की ओर देखती रही और फिर सहसा उनकी गोद में मस्तक रख कर फूट-फूट कर रो पड़ी।

'हैं ! किशोरी ! किशोरी ! क्या बात है ?'

किन्तु किशोरी केवल रो रही थी। इतने दिनों बाद वह स्वामी के आगे आज रोयी। क्यों रोयी, इसे केवल वह जानती थी या अन्तर्यामी भगवान।

दासी की तरकीब

'साथियों का क्या हुआ, कुछ पता नहीं मुन्दर! हमें तो केवल भागने की पड़ी थी। क़िले से बाहर होते ही हमने अँधाधुन्ध अपने घोड़े छोड़ दिये। अन्धकार में आप उन्होंने अपना मार्ग खोज लिया। तब से हम बराबर भागते ही आ रहे हैं। कब रात्रि का अन्धकार बीता और कब प्रभात ने दया करके हमें यहाँ का मार्ग बताया, कुछ पता नहीं। कहाँ से कहाँ आ गयी हूँ? कल क़िले के भीतर शत्रुओं से युद्ध कर रही थी, और आज इस पुराने मन्दिर की फूटी दीवारें मुझे अपना शरणापन्न बना रही हैं। वे भी जैसे मुझे अपनी दया का पात्र समझती हैं। कल क़िले की बुर्ज पर जाकर अपने हाथ से मैंने धन-गर्ज में गोले भरे हैं, जब कि शत्रु की गोलियाँ पानी की तरह मेरे चारों ओर बरस रही थीं; और आज इस समय अपने प्राण लेकर मन्दिर में छिपी बैठी हूँ कि कोई देख न ले। पत्ता भी खटकता है, चौंक उठती हूँ। मुझे इस पर विश्वास नहीं हो रहा है मुन्दर!'

अब तक जो कुछ हुआ है, मुन्दर का स्वयम् उसकी सत्यता पर विश्वास नहीं था। वह चुपचाप सुन रही थी, और आनन्द महारानी के कन्धे पर हाथ रखकर एकटक उनकी ओर देख रहा था, मानो उनके भावों की थाह पाना चाहता था।

महारानी कहती जा रही थीं—'यह सब सत्य नहीं हो सकता। परन्तु यह तुम बैठी हो मुन्दर! ये अश्व बँधे हैं; ये मन्दिर की दीवारें हैं, जिनके झरोखों में होकर प्रकाश की किरणें यहाँ आकर हमारा मानो उपहास कर रही हैं; मुन्दर आनन्द के लिए कलेवा लेने बाज़ार गयी है; एक-एक क्षण एक-एक युग के समान बीत रहा है। मुन्दर आवे, और कब हम अपने घोड़ों पर सवार होकर अपना मार्ग लें! यह सब सत्य है मुन्दर! जितनी सत्य मैं या तुम। मैं क़िले से चोरों की तरह छिपकर भागी हूँ। किस लिए? अपने लिए? झाँसी के लिए? आनन्द के लिए? मैंने सिंहद्वार को खोलने की आज्ञा दे दी थी, और अपने विश्वासी गोसाइयों के साथ अँगरेज़ों से मैदान में जूझने जा रही थी। मैंने निश्चय कर लिया था कि मेरे साथ ही सब समाप्त हो। प्रभात होने के साथ ही मैं मर जाऊँ। दिन के प्रकाश में झाँसी देखना मेरे लिए बहुत कठिन हो जाता। मैं तैयार थी। उसी समय एक ओर से देशमुख और दूसरी ओर से आनन्द को साथ लिये पिताजी आये। देशमुख ने मेरा मार्ग रोक कर कहा—'जान-बूझकर प्राण देना, यह तो आत्मोद्धार नहीं, आत्मघात है। मर कर झाँसी की रक्षा नहीं हो सकेगी। परन्तु जीवित रहने से, सम्भव उद्धार की तरकीब हाथ लग जाय।' और, उन्होंने कालपी की

ओर संकेत किया। उस तरफ उन्हें आशा की एक दिखायी दी।'

'आई! आई!!'—महारानी के मुख की ओर देख कर आनन्द सहसा बोल उठा—'आई! आई!!'

'आई! आई!!' समुद्र में जैसे ज्वार आ गया।

देशमुख जो नहीं कर सके, वह पिताजी ने किया। जहाँ मैं दुर्बल से दुर्बल थी, वहीं उन्होंने आघात किया। 'झाँसी के लिए नहीं, तो आनन्द के लिए मैं जीवित रहूँ। मेरा निश्चय हिम की तरह पिघल चला। झाँसी और आनन्द, इनमें से किसके लिए भाग कर आयी हूँ, सुन्दर, बता तो सही—' और महारानी स्नेह-पूर्वक आनन्द के माथे पर हाथ फेरने लगीं।

'दोनों के लिए बाई साहब!' रुद्ध कंठ से सुन्दर ने जवाब दिया।

महारानी ने मुस्कराने का प्रयत्न किया, मानो अपनी दासी के लिए थोड़ा धैर्य संचय कर रही थीं। आनन्द फिर बोल उठा—'आई, युद्ध में हमारी विजय नहीं हुई?'

'बेटा, तुम्हारी मा पराजित होकर भाग रही है।'

'भागते नहीं, तो हमारी जीत होती, आई?' आनन्द ने भोलेपन के साथ पूछा।

'ज़रूर होती, बेटा! वह पराजय इस भागने की अपेक्षा बहुत गौरवमयी होती। परन्तु—'

उसी समय सुन्दर ने प्रवेश किया। वह भांडेर के बाज़ार से आनन्द के लिए कुछ खाने के लिए लेने गयी थी।

अब तक ने उसे देखते ही कहा—'सुन्दर, तुम आ गयीं। चलो, विश्वास नको थोड़ा पानी दो। और हम लोग चलें। यहाँ अधिक ठहरना कन्धेक नही।'

'परन्तु आनन्द के लिए कुछ मिला नहीं, बाई साहब! यह खोवे की मिठाई है, जो बासी है। मैं एक हलवाई की दूकान पर ताज़ी पूड़ियाँ बनवा आयी हूँ। ऐसा है, तो आप सुन्दर के साथ चलें, मैं पीछे से आती हूँ।'

'रहने दे अपनी पूड़ियाँ। आनन्द के लिए मिठाई काफ़ी है।'

'वह अच्छी नहीं है, सरकार! गरम-गरम पूड़ियाँ बनवा आयी हूँ।'

'तू कैसी मूर्ख है। यह पूड़ियाँ बनवाने का समय था! अब मत जा। हम लोग चलेंगे।'

'नहीं, मैं तुरन्त आयी, सरकार! पूड़ियाँ लेने नहीं जाऊँगी, तो हलवाई अपने मन में क्या कहेगा। बनने में देर थी, इसलिए मैं यह कहने चली आयी हूँ कि आप यहाँ विलम्ब न करें।'

'तू कैसी है जो पूड़ियाँ लाने पर इतना ज़ोर दे रही है, जब कि जानती है कि हमारे लिए प्रत्येक क्षण जीवन के समान बहुमूल्य है। हलवाई की पूड़ियाँ तू लेने नहीं जायगी, तो यह बात नहीं कि कोई उन्हें ख़रीदे ही नहीं। चल सुन्दर, घोड़े ला। देर करना ठीक नहीं। आज ही कालपी पहुँचना है! यह खोवे की मिठाई आनन्द घोड़े की पीठ पर खा लेगा।' और महारानी उठकर खड़ी हो गयीं।

सुन्दर क्षण-भर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़-सी रह गयी। फिर अपने को सँभाल कर शीघ्र बोली—'महारानी, दासी का अपराध क्षमा हो। हलवाई से जब पूड़ियाँ बनाने को कह आयी हूँ, तो लेने भी अवश्य जाऊँगी। झूठी नहीं बनूँगी।'

'तो फिर जाती क्यों नहीं?' महारानी बोल उठीं—'खड़ी-खड़ी समय नष्ट क्यों कर रही है? तेरी पूड़ियाँ आ जायँ, तभी हम लोग चलेंगे।'

'यह चली। परन्तु...'

'परन्तु क्या?'

'मैं कह रही थी कि यदि मुझे आने में विलम्ब हो, तो आप यहाँ से चली जायँ।'

'तू इतनी व्यग्र क्यों हो रही है? पूड़ियाँ लेकर क्या तू शाम तक लौटेगी? जब तक तू नहीं आती, हम यहीं रहेंगे, समझी।'

यह सुनकर दासी का चेहरा न जाने क्यों ऐसा हो गया, मानो जलते हुए दीपक को किसी ने फूँक मारकर बुझा दिया हो। बहुत ही निराश और विवश वह चुपचाप बाहर हो गयी। महारानी क्षण भर तक अपनी जगह पर खड़ी रहीं। फिर धीरे-धीरे एक झरोखे के पास पहुँचीं, और देखने लगीं। सुन्दर बोली—'पूड़ियों के साथ सुन्दर कुछ विपत्ति मोल न लावे!'

'तो हम उसका भी स्वागत करेंगे सुन्दर! इस समय तू आनन्द के लिए उस कुएँ पर से थोड़ा जल ले आ।'

'और आपको भी प्यास लगी होगी?'

'मुझे ! मैं राव साहब के यहाँ ही जलपान करूँगी। मुन्दर, अभी-अभी मेरे मन में एक विचार उदय हुआ है। यदि राव साहब ने सहायता देने से इनकार किया, यो आज ही वहाँ से लौट आऊँगी, और—'

'और—?' मुन्दर की त्रस्त दृष्टि ने प्रश्न किया।

'गोसाइयों की सेना एकत्र करके अकेले ही अपने भाग्य की परीक्षा करूँगी। मेरा विश्वास है, जहाँ तक झाँसी का सम्बन्ध है, वह बहुत मन्द नहीं; यद्यपि ...'

महारानी के गले में जैसे कोई चीज़ अटक गयी। उन्होंने किसी तरह वाक्य-पूर्ति करनी चाही—'यद्यपि मैं स्वयम् जन्म की...' उसी वक्त मुन्दर पर नज़र पड़ी—'वाह ! तुम्हारी आँखों में तो आँसू हैं मुन्दर ! मेरी क्षणिक दुर्बलता ने तुम्हें कमज़ोर बना दिया क्या ? वह प्रकट कहाँ हुई, मैं कह नहीं सकती। देखो, मेरी आँखों में क्या आँसू हैं ? क्या मैं अपने अभाग्य पर रो रही हूँ ? ऍ, सामने यह धूल कैसी ? और यह घोड़ों की टापों की आवाज़ !'

मुन्दर के नेत्र और कान एक साथ सजग हो गये। क्षण भर पूर्व उसके नेत्रों में अपनी स्वामिनी के प्रति सहानुभूति के जो आँसू थे, वहाँ भय और सतर्कता मूर्तिमान् हो गयी। उसने झरोखे से झाँककर देखा, और फिर शीघ्रता से बोली—"आप आनन्द के साथ यहीं रहें, मैं तब तक देखती हूँ, क्या बात है।'

वह मुश्किल से बाहर गयी होगी कि पीछे से महारानी की आवाज़ सुनायी दी—'घोड़ा, मुन्दर, शीघ्र घोड़ा लाओ !'

मुन्दर चिल्लायी—'सर्वनाश ! अँगरेज़ हमारा पीछा कर रहे हैं, महारानी ! आप भीतर ही रहिये ।'

'मैं भीतर रहूँ, और अँगरेज़ सुन्दर की हत्या करें !'

'सुन्दर !'

'हाँ, जैसे सुन्दर ही है । झरोखे से मैंने ख़ूब स्पष्ट देखा । वह देखो, अपने किशमिशी रंग के घोड़े पर । दृष्टि से प्रति क्षण ओझल हुई जा रही है ।'

'यह हतभागिनी सुन्दर कहाँ पहुँची ! कुशल है कि मन्दिर से विपरीत दिशा में भाग रही है । परन्तु वह तो अब घिरी और अब घिरी ।'

तब तक महारानी आनन्द के साथ घोड़ों के नज़दीक पहुँच गयी थीं ।

'मुन्दर, विलम्ब का समय नहीं है । सुन्दर विपत्ति में पड़ सकती है । शीघ्र तैयार होओ ।'

महारानी ने आनन्द को पीठ से बाँधा, और वह घोड़े पर सवार थीं ।

मुन्दर घबराकर बोली—'बाई साहब, आप यह क्या कर रही हैं । मेरा कहा मानिये । आप भीतर ही रहें । पीछे पलटन हुई, तो आप विपत्ति में पड़ सकती हैं । सुन्दर की रक्षा मैं कर लूँगी—कैसी मूर्ख है !'

'तू जो कर सकेगी, वह मैं नहीं कर सकूँगी ! तूने मुझे इतना अकर्मण्य कैसे समझ लिया मुन्दर ! चल सवार हो । देर का काम नहीं ।'

मुन्दर ने बुदबुदाते हुए महारानी का अनुसरण किया, और ज़रा देर बाद दोनों के वायु-वेग से जाते हुए घोड़े खेतों की उड़ी हुई धूल से ढके दिखायी दिये ।

घायल होकर छटपटाता हुआ नीचे गिर पड़ा। वह शायद गोरों का कोई अफ़सर था। उसका गिरना था कि गोरों में खलबली मच गयी। महारानी ने संकेत किया, और जब तक गोरे सँभलें, वह दासियों को लेकर घोड़ा दौड़ाती हुई निकल गयीं। गोरे पहले तो हक्के-बक्के-से रह गये। फिर उनमें से कुछएक ने महारानी के पीछे अपने घोड़े छोड़ दिये। महारानी अपनी दासियों के साथ वायु-वेग से चली जा रही थीं। गोरों को आते देखकर बोलीं—'देखो, ये अँगरेज़ केवल जीतने के लिए लड़ते हैं। तुम दोनों आगे रहो। मैं पीछे हूँ। तीन गोरे हैं। इनसे निपट लेना ठीक है।' उन्होंने घोड़े की चाल धीमी की। आनन्द को सँभाला। सामने एक नाला था, मुन्दर और सुन्दर जिसे पार करके निकल गयी थीं। एक गोरा इस वक्त महारानी के नज़दीक आ गया था। वह ज्यों ही उन पर आक्रमण करने के लिए झपटा, महारानी ने पलट कर उसे तलवार का एक ऐसा हाथ मारा कि उसका सिर धड़ से अलग होकर ज़मीन पर लोटने लगा। यह भयानक काण्ड देखकर उसके साथी उलटे पैरों लौट गये। महारानी घोड़ा दौड़ाती हुई निकल गयीं। ज़रा देर बाद जब अपने को ख़तरे से बाहर समझा, तब घोड़े को कुछ धीमा करके सुन्दर से बोलीं—'सुन्दर, तू पूड़ियाँ लेने गयी थी। गोरे तुझे कहाँ मिल गये? तेरी पूड़ियों की वजह से आज कितना अनर्थ हुआ होता!'

'मगर सरकार, मैं आपसे कह आयी थी कि जब तक मैं लौटूँ नहीं, आप मन्दिर से बाहर न जायँ।' सुन्दर ने जवाब दिया।

'यह ठीक कहा। तू आज लौटती नहीं, और मैं सुन्दर और आनन्द के साथ उस मन्दिर में चिरकाल तक तेरी बाट जोहा करती। परन्तु तूने मेरी बात का जवाब नहीं दिया। हलवाई के निकट झूठी न बने, इस वास्ते पूड़ियाँ लेने गयी थी—और फँस गयी इस विपत्ति में।'

'अपराध क्षमा हो महारानी ! वह केवल बहाना था।'

'बहाना ! सो कैसे ?'

'भाण्डेर के बाज़ार में खोवे की मिठाई मिल गयी, यही बहुत समझिये। लौट रही थी, तो सड़क पर धूल उड़ती दिखायी दी। मेरा माथा ठनका, और देखने के लिए कि क्या बात है, मैं नज़दीक के एक टीले पर चढ़ गयी।'

'तो गोरों को तूने दूर से आते देख लिया था ?'

'हाँ सरकार !'

'तू आयी, और ख़बर दिये बिना बहाना बनाकर चली गयी। फिर ? तू मुझे चकित कर रही है।'

'मैंने एक तरकीब सोची सरकार, कि गोरे आपको खोजें नहीं, और आप सुरक्षित कालपी पहुँच जायँ। मगर चली नहीं।'

'मैं भी सुनूँ तेरी वह तरकीब।'

'अँगरेज़ों ने मुझे बड़ी आसानी से महारानी समझ लिया।'

'तो तू स्वेच्छा से उनके दृष्टि-पथ में गयी !' महारानी साश्चर्य बोल उठीं—'समझी, समझी। यह मोतियों का हार और यह ज़री का साफ़ा इसीलिए तूने पहन रक्खा है। महारानी समझ कर अँगरेज़ तेरी

हत्या करें, और फिर मुझे खोजें नहीं......पागल ! यही थी तेरी तरकीव ! जैसे मुझे कोई पहचानता नहीं ! वह तो मैंने देख लिया......'

'मगर आपने ठीक नहीं किया सरकार ! मेरे मर जाने से नुक़सान ही क्या था !'

'ज़रूर, ज़रूर। देखा सुन्दर, इसे। समझती नहीं, हम तीनों का भाग्य विधाता ने एक सूत्र में गूँथ रक्खा है। हम तीनों मरेंगी, तब एक साथ।'

'सरकार !' दासी चुप थी, और स्नेह-गद्गद महारानी ममता-पूर्ण दृष्टि से उसे देख रही थीं !



दरोग़ा कुलदीपराय

हेमी किसी तरह भी हरी को गेंद देने पर राज़ी नहीं हो रही थी।

हरी को इस पर ग़ुस्सा आ गया। मा के सामने तो वह कुछ नहीं बोला, परन्तु घर से बाहर निकलते ही उसने हेमी के हाथ से गेंद छीन ली, और साथ ही भविष्य में ऐसी धृष्टता न करने के लिए उसके गाल पर एक चपत भी जमा दी। जो हेमी मा के घूँसों को निःशब्द भाव से सहन कर लेती थी, वह भाई के हाथ का एक थप्पड़ खाकर धम्म से नीचे गिर पड़ी, और चीत्कार क्रन्दन करती हुई पथ की धूलि में लोटने लगी। यह देखकर हरी पहले तो कुछ अप्रतिभ हो गया। फिर यह लक्ष्य करके कि हेमी का कंठ-स्वर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है, उसने गेंद के साथ मैदान छोड़कर भाग जाने में ही कुशल समझी।

सड़क के उस पार, बाज़ार के कोने पर, खड़े होकर वह हेमी की गति-विधि देखने लगा। वह इस वक्त धूलि झाड़ती हुई उठकर खड़ी हो रही थी। इस आशंका से कि कहीं उसकी उच्च क्रन्दन-ध्वनि मा के कानों तक न पहुँच गयी हो, उसका हृदय कंटकित हो गया। इतने में उसने सुना—

'जय ! महात्मा गाँधी की जय !'

इस जय-घोष को सुनकर वह उछल पड़ा, और यह देखने के लिए कि जलूस कहाँ से आ रहा है, उसने पीछे घूम कर देखा। सबसे पहले उसकी दृष्टि वायु में फहराते हुए एक तिरंगे झंडे पर पड़ी। पीछे छोटी-बड़ी उम्र के बहुत से बालक थे, जो उच्च स्वर में 'महात्मा गाँधी की जय' बोलते, उछलते-कूदते और जो मन में आता चिल्लाते चले आ रहे थे। इस नये और अभावनीय दृश्य को देखते ही हरी भूल गया कि वह हेमी को पीट कर आया है। उसने अपने मकान के सामने से बड़े आदमियों का जलूस गुज़रते कई बार देखा था, और उन्हें न जाने क्या-क्या चिल्लाते भी सुना था। पर उसके समवयस्क बालकों का यह छोटा-सा जलूस, उनके साथ में यह छोटा-सा तिरंगा झंडा और उन सब का उछल-उछल कर यह गाना—

'झंडा ऊँचा रहे हमारा······'

यह सब उसके लिए बहुत ही मोहक और चित्ताकर्षक था। उन बालकों को इस प्रकार स्वच्छन्द भाव से उछलते-कूदते, जी की उमङ्गें प्रकट करते और गीत गाते देख कर उसकी वही हालत हो गयी, जो वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए अपने किसी सङ्गी का नृत्यमय कलरव सुन कर पिंजर-बद्ध कीर की हो जाती है। उसका हृदय एक अजीब ताल से नृत्य करने लगा। सर्वाङ्ग में आमोद और उल्लास की बिजली दौड़ गयी। उसके मन में आया कि वह दौड़ कर जलूस में सम्मिलित हो जाय, और चिल्ला उठे—

'महात्मा गाँधी की जय !'

परन्तु वह खड़ा रहा। जलूस निकट आया। उसे देख कर कई बालक चिल्ला उठे—'अरे हरीशङ्कर! देखो, हम लोगों का झंडा। कांग्रेस-कमेटी ने दिया है। कैसा अच्छा है! हम लोग आज अपना जलूस निकाल रहे हैं। चलो, चलो, तुम भी चलो।' उसके समवयस्क कई छोटे बालक उसे घेर कर खड़े हो गये। वह सब अधिकाँश में उसके सहपाठी थे—रामू, घनसू, श्यामू, बिन्दू वग़ैरह। हरी का हाथ पकड़ कर चिल्लाने लगे—'चलो, चलो, बड़ा मज़ा है। देखो यह झंडा। हम लोग बस्ती भर में घूमेंगे। खूब गीत गावेंगे। 'घर-घर वीरो, खद्दर पहनो; घर-घर वीरो, चरखा कातो।' और भी बहुत से गीत हैं। हम तुम्हें बतावेंगे।' उनकी बातें सुन कर हरी का हृदय आनन्द के आवेश से भर गया। घर जाकर टोपी अथवा जूता पहन आना तो दूर रहा, वह यह तक भूल गया कि उसके पिता ने उसे घर, स्कूल और थाने के सिवा अन्यत्र जाने की सख्त मनाही कर रक्खी है, और बस्ती के लड़कों से मिलने-जुलने का तो हुक्म ही नहीं है। बाबूजी आज गाँव गये हैं, इस सुयोग की कल्पना से मन ही मन आनन्द से लोट-पोट होते हुए उसने आगे बढ़ कर कहा—'चलो।'

उसे चलने के लिये राज़ी देख कर बालकों की मण्डली प्रसन्न हो उठी, क्योंकि उनकी कुछ ऐसी धारणा थी कि हरी के साथ चलने से उनके जुलूस की रौनक़ बढ़ जायगी।

हरी ने आगे बढ़ने के पहले झंडे की तरफ़ देख कर कहा—

'मगर यह झंडा मैं लूँगा।'

वयस्कों की मण्डली में यदि कोई ऐसी बात कहता, तो जलूस का आगे बढ़ना कठिन हो जाता, परन्तु बालकों ने हरी के इस दावे को तुरन्त स्वीकार कर लिया। सब एक साथ बोल उठे—'हाँ गेंदू, झंडा हरीशङ्कर को दो। तुम नहीं ले सकते।' अपने इतने भारी अपमान से मर्माहत होकर गेंदू पहले तो सहज ही में अपने नायकत्व के पद को त्यागने के लिए राज़ी नहीं हुआ, पर अन्त में बहुमत को हरी के पक्ष में देख कर उसने चुपचाप झंडा सौंप दिया, और अपना बिगड़ा हुआ मुँह लेकर पीछे की पंक्ति में जाकर खड़ा हो गया। हरी के हाथ में झंडा पहुँचते ही बालकों ने उछल कर अपूर्व उत्साह के साथ जयघोष किया—

'महात्मा गाँधी की जय!'

हरी ने झंडा ऊँचा करके, किलकारी मार कर, असंकुचित भाव से दुहराया—

महात्मा गाँधी की जय!

उस गूँजते हुए स्वर को सुनकर बालकों ने समझ लिया कि हरी उनका उपयुक्त नेता है।

हरी ने झंडे को ऊपर उठा कर, मानो यह देखने के लिए कि वह वायु में फहराता हुआ कैसा जान पड़ता है, अपना मस्तक विशाल करके, आगे क़दम बढ़ाया। पीछे से बालकों का दल, कोलाहल करता और गाता हुआ, चलने लगा। हरी पर जलूस का रंग चढ़ते देर नहीं लगी। पिता के असंगत शासन और नियंत्रण से कुण्ठित हुए शैशव ने अवसर

पाकर मानो अपना सिर उठा दिया। वह झण्डा ऊपर करके उछल-उछल कर गाने लगा—

'झंडा ऊँचा रहे हमारा……'

वह स्वर जितना कोमल था, उतना ही गरम और स्फूर्ति पैदा करने वाला। मण्डली में उसकी वजह से जान आ गयी। बाज़ार में बहुत-से बालकों की भीड़ उसके साथ लग गयी। उन सबके आगे गर्वोद्धत भाव से पताका लेकर चलता हुआ वह बहुत भला मालूम होता था, मानो छोटा नेपोलियन या लेनिन हो। उस सुकुमार बालक का जोश देखकर युवक लज्जित हो गये। स्त्रियाँ उसे देखने और आशीर्वाद की वर्षा करने लगीं। पुरुषों ने हर्ष-ध्वनि की और क़ौमी नारे लगाये। बाज़ार में एक समाँ-सा बँध गया। हरी के चेहरे से एक दिव्य ज्योति फूट पड़ी। वह चारों ओर आवेश का प्रसार करता हुआ मुक्त विहङ्गम की भाँति उछल-उछलकर, विचित्र प्रकार का हास्योद्दीपक नाट्य करके गाने लगा—

घर-घर वीरो, खद्दर पहनो।
घर-घर वीरो, चरखा कातो।
महात्मा गाँधी की जय!

खूब ज़ोर से बोलो—'महात्मा गाँधी की जय!' बाज़ार के अनेक कण्ठों ने पुनरावृत्ति की—

'महात्मा गाँधी की जय!'

हरी ने फिर आवाज़ लगायी—इनक़िलाब—ज़िन्दा—। किन्तु अपने सामने एक सिपाही की मूर्ति देखकर सहसा उसका कण्ठ शिथिल हो

गया। सिपाही ने बालकों की इतनी बड़ी मण्डली के अधिनायक के पद-गौरव की कुछ भी परवा न करके, मूर्तिमान् विघ्न की तरह, हरी के संम्मुख उपस्थित होकर कहा—

'घर चलो। बाबू जी बुला रहे हैं। देखो, कैसी मार पड़ती है!'

हरी का चेहरा शुष्क हो गया, और हृदय के उच्छ्वासित आवेग की गति के सहसा अवरुद्ध हो जाने से जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, उसे सँभाल न सकने के कारण हाथ से झण्डा छूट पड़ा। चेहरे का उल्लास और आनन्द न जाने कहाँ चला गया! मानो पर्वतों के कठिन और अभेद्य चक्रव्यूह को तोड़कर वह निकलने वाली गिरि-निर्झरिणी अपने मार्ग में फिर वही पर्वत की दीवार अड़ी देखकर अपना आनन्द-नृत्य भूल गयी हो। उसने त्रस्त-व्यस्त होकर पूछा—

'बाबूजी क्या आ गये?'

'हाँ, चलो, अभी सब मालूम हो जायगा।' सिपाही ने उसे और भी भय-त्रस्त करते हुए कहा।

बाबूजी कल आने के लिए कहकर आज ही इस वक्त क्यों आ गये हैं, हरी को यह पूछने का साहस नहीं हुआ। सिपाही के साथ चलने के पहले उसने इस अप्रिय और अप्रत्याशित घटना से क्षुब्ध होकर चुपचाप खड़े हुए अपने साथियों पर दृष्टिपात किया। वह सब उसकी दयनीय और अपरिहार्य अवस्था पर अपनी विह्वल दृष्टियों द्वारा हार्दिक खेद प्रकट कर रहे हैं, यह देखकर लज्जा और धिक्कार से उसका मस्तक नत हो गया। वह सिर लटकाकर घर की ओर चलने लगा।

(२)

हरी के पिता आँगन में पड़ी हुई एक आराम-कुर्सी पर अपनी स्थूल देह फैलाकर दरवाज़े पर उसके प्रकट होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने घर के भीतर प्रवेश करते ही हरी को आवाज़ लगायी थी। उसे वहाँ न देखकर वह बाहर खोज में जा रहे थे। इतने में हेमी ने भाई से प्रतिशोध लेने का यह अच्छा मौक़ा देखकर पिता के सम्मुख उपस्थित होकर कहा—'बाबूजी, भैया बाहर भी नहीं हैं। न जाने कहाँ भाग गये हैं! मेरी गेंद छीन ले गये और मुझे ख़ूब मार गये हैं।'

'अच्छा, आने दो, हम पीटेंगे,' कह कर उन्होंने वर्दी उतारी, और नौकर को आज्ञा दी—'जा, देख तो, हरी कहाँ है।' हरी कहाँ है और क्या कर रहा है, यह देखने के लिए नौकर को बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं हुई। उसने आकर ख़बर दी—'हुज़ूर, छोटे बाबू कांग्रेस-कमेटी के जलूस के साथ झण्डा लेकर घूम रहे हैं!'

नौकर की इस बात पर मानो अविश्वास करके उन्होंने भौंहें कुञ्चित करके कहा—'जलूस के साथ!' फिर जिस तरह शैतान का नाम सुनकर धार्मिक ईसाई का मानस-तल संक्षुब्ध हो जाता है, उसी तरह नौकर के मुँह से निकली हुई उस अकथ्य और अश्रव्य शब्दावली को सुनकर उन्होंने अपने होंठ चबा लिये, और सामने खड़े हुए एक सिपाही से बोले—

'जाओ तो गङ्गादीन, वह बदमाश जहाँ हो, पकड़ कर लाना, घसीटते हुये, बिना मुलाहज़े के। देखें, इस शैतान के कैसे पर निकल आये हैं'—कहकर वह क्रोध से फूलते हुए घर के भीतर चले गये।

शुष्क और मलिन-मुख हरी काँपता हुआ पिता के सामने आया। पिता ने उसे देखते ही कहा—'कहाँ थे ?' और वह ठुड्डी पर हाथ रख कर, होंठ चबाते हुए, तीक्ष्ण दृष्टि से लड़के की तरफ़ देखने लगे। पिता का उद्देश्य अच्छा है, और सच कह देने से वह सदैव प्रसन्न होते हैं, यह सोच कर हरी ने हिम्मत करके कहना प्रारम्भ किया—

'जलूस में।'

'किस लिए ?'

हरी ने यथाशक्ति मुँह बिगाड़ कर रोने का भाव प्रदर्शित करते हुए कहा—

'झण्डा लेकर महात्मा गाँधी की जय बोलने के लिए।'

वैसे ही उसके गाल पर तड़ से पिता का एक प्रचंड तमाचा पड़ा। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। पिता के इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का कोई संगत कारण न समझ पाकर वह भग्न-कातर दृष्टि से क्षण-भर तक अपने सामने खड़ी हुई उनकी रौद्र मूर्ति की ओर देखता रहा, और फिर फूट फूट कर रो पड़ा। उसे अपने अन्तर में ध्रुव विश्वास था कि यह जान जाने पर कि वह बस्ती के बुरे लड़कों के साथ खेलने नहीं, अपितु झंडा हाथ में लेकर और बालकों की एक विशाल मंडली का अधिनायक बनकर महात्मा गाँधी की जय बोलने गया था, उसके पिता अवश्य प्रसन्न होंगे। पर उसका वह आशा-दुर्ग एक थप्पड़ में ही भूमिसात् हो गया।

पिता ने क्रोधोन्मत्त बाघ की भाँति गरजकर कहा—'हरामज़ादा ! गाँधी की जय बोलने गया था ! पढ़ने लिखने से कुछ मतलब नहीं ! कहाँ है, लाओ तो हंटर, आज तेरी खाल उधेड़ूँगा। देखूँ, तू कैसा शैतान हो गया है।'

हंटर की विभीषिका के स्मरण-मात्र से क्रन्दन की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ हरी का उच्च स्वर तुरन्त नीचे उतर आया। परन्तु क्षमा फिर भी नहीं। उसके बाद ही हन्टर के अभाव में उसके गालों पर तड़ातड़ तीन-चार थप्पड़ और पड़े। अब की बार उसका माथा भन्ना गया, और धीरे-धीरे रोना उसके लिए असम्भव हो गया।

सुखलता उस समय महाराजिन को रसोई के लिए भंडारे से समान निकाल कर दे रही थी। पति का गर्जन-तर्जन और पुत्र का सशब्द क्रन्दन सुन कर वह दौड़ी हुई आयी, और आँगन का दृश्य देखकर सिहर उठी।

हरी के पिता ने उसे दोनों कान पकड़कर अधर में उठा लिया था, और झटके देकर कह रहे थे—'बोल, अब तो कभी उन बदमाश लड़कों के साथ गाँधी की जय बोलने न जायगा?' पर हरी केवल करुण चीत्कार करके पिता के हाथों से मुक्त होने के लिए जल-विहीन शफर की भाँति छटपटा रहा था। निमेष-मात्र में सुखलता ने पति के संम्मुख प्रकट होकर बल-पूर्वक उनके दोनों हाथों को अलग किया, और हरी को गोद में उठा कर छाती से लगा लिया। फिर डपट कर बोली—

'क्या मंशा थी ! मैं ज़रा देर और न आती, तो तुम आज उसके प्राण ही ले लेते । अगर वह जलूस में जाकर अपने हमजोलियों के साथ महात्मा गाँधी की जय बोल आया है, तो कौन-सा ग़ज़ब हो गया । गाँधी कोई महात्मा होंगे, तभी तो रोज़ जुलूस निकलता है, और सब कोई उनकी जय बोलते हैं । फिर इसने ही कौन-सा कुसूर किया है ? कोई खून किया है ? या किसी पर कोई आफ़त ढा दी है, जो इस तरह पीट कर रख दिया ?'

पत्नी की धमकी से कुछ अप्रतिभ और क्षुब्ध होकर हरी के पिता ने कहा—

'तुम्हारी शह पाकर ही तो यह ऐसा गुस्ताख़ होता जा रहा है। तुमने इसे जलूस में जाने से मना क्यों नहीं किया ? तुमसे किसने कहा कि गाँधी महात्मा हैं, और उनकी जय बोलनी चाहिए ?'

सुखलता ने असंकुचित होकर कहा—'मैं क्या जानूँ ? मैं क्या देखने गयी हूँ या सुनने ? यहीं बैठे-बैठे सुनती हूँ कि गाँधीजी बड़े महात्मा हैं। अभी उस दिन कहारी ही कह रही थी कि गाँधी महात्मा से सरकार तक डरती है, ऐसा उनका प्रताप है ।'

'और क्या ! तुम्हें ये हरामज़ादी कहारिनें और चमारिनें तो बात करने को मिलेंगी ही। इन बदज़ातों ने ही तो गाँधी को फ़रिश्ता बना रक्खा है।'

'बना रक्खा हो, या न बना रक्खा हो। महात्मा होंगे, तो आप पुजेंगे। तुम्हीं दौड़कर उनके चरण छुओगे । किसी को गाली क्यों देते हो ?'

दिन बिगड़ती ही जाती है। इधर दो दिन से उसका दूध भी छूट गया है। किसी से न बोलता है, न बात करता है। केवल प्रलाप की अवस्था में पड़ा हुआ 'महात्मा गाँधी की जय' बोलता रहता है। डॉक्टर ने कहा कि उसे 'टाईफ़ाइड' हो गया है। वैद्य का भी यही कहना है। पर सुखलता के मन को किसी भाँति ढाढ़स नहीं बँधता। वह मलिन मुख अपने मुमूर्ष पुत्र के सिरहाने बैठी रहती और उसकी शोचनीय अवस्था पर नीरव क्रन्दन किया करती है। जब से हरी बीमार हुआ है, उसे कुछ भी नहीं सुहाता। निराशा और दुःख से मूढ़ होकर वह कभी-कभी अपने पति से लड़ बैठती है। उसकी धारणा है कि उस दिन महात्मा गाँधी की जय बोलने के कारण हरी को पीटने से ही उसकी यह दशा हुई है। इस वजह से महात्मा गाँधी पर भी उसका कम आक्रोश नहीं है। वह उन्हीं को इस विपत्ति का मूल कारण समझती है। न जलूस निकलता, न हरी उसमें शामिल होता, न अपने मुँह से वह उनकी जय बोलता, और न उसके पिटने की नौबत आती। हरी के पिता पत्नी की इन सब बातों को सुन कर कुछ नहीं कहते। निःशब्द भाव से चौके में आते और दो-चार कौर खाकर दफ़्तर चले जाते हैं।

हरी को देखने के लिए घर की नौकरानी ने कमरे में प्रवेश किया। सुखलता स्टूल पर बैठी हरी के मस्तक को हिम से शीतल कर रही थी। नौकरानी थोड़ी देर तक निस्तब्ध खड़ी रही, फिर बोली—

'बहूजी, छोटे बाबू की तबियत अब कैसी है?'

गेंदन की मा सुखलता के वेदना-व्यथित हृदय को सान्त्वना देकर भगवान् से हरी के शीघ्र आरोग्य-लाभ की मङ्गल-कामना करती हुई कमरे से बाहर चली गयी।

(४)

गत रात्रि में हरी की अवस्था बहुत शोचनीय हो गयी थी। दो बार डॉक्टर आया। वह कह गया कि यदि आज की रात कुशल से बीत गयी, और हरी का ज्वर एकदम न उतरकर क्रमशः कम हुआ, तो फिर आशंका की कोई बात नहीं। निराशा के गम्भीर अन्धकार में आशा की यही एक क्षीण ज्योति थी, जिसके सहारे सुखलता ने हरी के सिरहाने बैठ कर सारी रात बितायी। इस समय हरी कुछ झपक गया है। रात्रि-जागरण से क्लान्त हुई सुखलता भी गाल पर हाथ रखकर ऊँघ रही है। उसका बायाँ हाथ फिर भी मा के प्रत्यक्ष आशीर्वाद के समान सजग होकर पुत्र के मस्तक की रक्षा कर रहा है। कमरे में निस्तब्धता है। केवल एक टाइमपीस घड़ी टिक-टिक कर रही है। घर में उसके पति नहीं हैं। वह आज सवेरे पाँच बजे से ही थाने की पुलिस को साथ लेकर अपना कर्त्तव्य-पालन करने बाहर गये हैं।

सहसा दूरागत समुद्र-गर्जन की भाँति सड़क पर से आ रही मनुष्यों की तुमुल कोलाहल-ध्वनि सुनकर सुखलता चौंक पड़ी, और साथ ही आज के दिन की कोई विशेष बात बिजली की तरह उसके मस्तिष्क में कौंध गयी। जल्दी से उठी और इस बात का निश्चय करके कि हरी निर्विघ्न सो रहा है, वह दबे पैरों बाहर निकलकर छत पर जाकर खड़ी हो गयी।

सुखलता के शय्या-पार्श्व से अलग होते ही हरी ने नेत्र खोल दिये, मानो माता का सुखद कर-स्पर्श मुमूर्षु पुत्र के लिए कोई ऐसी मज्जागत वस्तु थी, जिसके अभाव का उसे तुरन्त ही ज्ञान हो गया। उसने कातर दृष्टि से चारों ओर देखा—फिर उसके नेत्र कुछ चकित और विस्मित हो गये। उसे ऐसा जान पड़ा, मानो वह कोई विराट् सङ्गीत सुन रहा है। फिर उसके कमरे की दीवारों को प्रकम्पित करता हुआ शत-शत कण्ठों से निर्गत एक उच्च गगन-भेदी रव बारम्बार उत्थित हुआ—

'महात्मा गाँधी की जय!'

अहा! न-जाने कौन-सा जादू था उस जय-घोष में! उसके रोग-जर्जर शरीर में बल आ गया। एक थरथराहट-सी पैदा हुई, जिसे वह सँभाल नहीं सका। वह उठकर बैठ गया। वही हरी, जिसका जीवन-दीप रात्रि में बुझा-बुझा-सा हो रहा था, इस समय उठकर बैठ गया, और चकित नेत्रों से कान लगाकर उस रव को सुनने लगा। वह मानो किसी ज्योतिर्मय देश का ऐसा विराट् दीप्तिमय सङ्गीत था, जिसकी लय-मात्र से उसका जीवन जगमगा उठा। वह उठकर खड़ा हो गया, कमरे से बाहर निकला, और किसी दुर्द्धर्ष मन्त्र बल से खिँचा हुआ, नितान्त विवश की भाँति, आँगन में होकर घसिटता, अपने दुर्बल, शीर्ण हाथों से दरवाज़ा खोलकर एकदम एक ऐसे दृश्य के सामने पहुँच गया, जो उसके लिए नितान्त ही अद्भुत और अभावनीय था। उसके सामने मनुष्यों की भीड़-ही-भीड़ थी, और उसमें से बारम्बार एक रव उठ रहा था—

महात्मा गाँधी की जय !

उसने उछलकर, ताली बजाकर, क्षीण स्वर में कहा—

'महात्मा गाँधी की जय !'

और आवेश को सँभाल न सकने के कारण उसका जीर्ण शरीर संज्ञाहीन होकर ज़मीन पर गिर ही रहा था कि भीतर से दौड़कर आयी हुई त्रस्त-व्यस्त सुखलता ने बाहु बढ़ाकर उसे अपनी गोद में ले लिया।

वह छत से नीचे उतरकर देखने आयी थी कि इस कोलाहल से कहीं हरी की नींद तो नहीं टूट गयी है ! शय्या सूनी देखकर वह निमेष-मात्र में द्वार पर पहुँच गयी। उसका हृदय अब भी धक्-धक् कर रहा था। वह हरी को खूब ज़ोर से छाती से चिपटाकर, और अपने आँचल से ढक कर, दरवाज़े तक ठिल कर आयी हुई भीड़ के सामने, निस्संकोच भाव से, खड़ी हो गयी ! वह हरी को शीघ्र भीतर ले जाना चाहती थी। परन्तु सामने फूलों से लदी हुई एक मोटर में बैठी वह दिव्य और मुसकराती मूर्ति छत तक जाते-जाते कहीं दृष्टि से ओझल न हो जाय, इस आशंका से उसने जल्दी से कहा—'देख हरी, वह मोटर पर महात्माजी बैठे हैं।'

उन शब्दों को सुनकर हरी ने धीरे-धीरे अपने नेत्र खोले, और सामने देखने लगा।

मा ने कहा—'उनको हाथ जोड़ो।'

और सुखलता ने भक्ति-गद्‌गद भाव से मन्थर गति से चलती हुई उस मोटर में बैठी उस दिव्य मूर्ति के चरणों में अपना मस्तक झुका

दिया। हरी ने मा का अनुकरण किया। उसके विवर्ण मुखमंडल पर एक अलौकिक ज्योति फूट पड़ी। सहसा वह स्वप्नोत्थित की भाँति बोला—'यह क्या! लोगों ने महात्माजी की जय बोलना क्यों बन्द कर दिया है, मा?'

सुखलता ने कहा—'बेटा, महात्माजी को अपनी जय बुलवाना पसन्द नहीं।'

हरी मा की गोद में अपना सिर हिलाकर बोला—'नहीं, तुम बोलो। ख़ूब ज़ोर से बोलो—महात्मा गाँधी की जय। ख़ूब ज़ोर से बोलो।' सुखलता ने भीड़ को सामने खड़ी देखकर लज्जा-जड़ित कंठ से कहा—

'महात्मा गाँधी की जय!'

फिर सहसा यह स्मरण करके कि हरी को वह बड़ी देर से खुली हवा में लिये खड़ी है, तेज़ी से घर के भीतर चली गयी।

× × ×

सुनते हैं, अपनी पत्नी के कहने से दरोग़ा कुलदीपराय ने सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया है! और, अब वह अपने पुत्र के साथ महात्मा गाँधी की ख़ूब जय बोला करते हैं।

प्राण-प्रतिष्ठा

बरसात के दिन थे। किन्तु उस दिन आसमान का रङ्ग कुछ साफ़ था। सब तरफ़ दूर तक हरी घास का मख़मली फ़र्श बिछा हुआ था, जिस पर अस्तोन्मुख सूर्य की किरणें चमक रही थीं। जब कभी हवा का झोंका आता तो उस फ़र्श पर प्रकाश और छाया की लहरें खेल जातीं। पास ही एक नाला था, जिसका गँदला पानी बादलों के सुनहले प्रतिबिम्ब में ज़ङ्ग लगी हुई इस्पात की छुरी की तरह चमक रहा था। नाले के किनारे एक छोटी सी झोपड़ी थी। उसके सामने मिट्टी का एक चबूतरा था। जब नाले में बाढ़ आती, तब उसका पानी चबूतरे के किनारों को काटता हुआ झोपड़ी तक फैल जाता। उस समय उस झोपड़ी और चबूतरे के स्वामी को अपनी और अपनी अन्य वस्तुओं की इतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी चबूतरे पर पड़े हुए पत्थर के कुछ बेडौल टुकड़ों की।

'आह !' चबूतरे पर बैठे हुए मूर्तिकार ने सामने रक्खी हुई पत्थर की मूर्ति पर अन्तिम बार टाँकी चलाकर कहा, 'आह !' दिन-भर के परिश्रम से उसके माथे पर पसीने की बूँदें झलक रही थीं। बाएँ हाथ

से उनको पोंछते हुए उसने मूर्ति की ओर देखा। टाँकी और हथौड़ी अब भी उसके हाथ में थीं। 'ज़रा आँखों को और सुधार दूँ, फिर बस' कहकर उसने दो-तीन बार हलकी टाँकी चलायी। टाँकी के स्पर्श से प्रतिमा के नेत्रों में एक अभिनव परिवर्तन होगया। पहले पुतलियाँ मुग्ध युवती की भाँति पलकों के घूँघट में होकर बाहर झाँक रही थीं। अब मानो किसी ने आँखों के सौन्दर्य पर से पलकों का परदा दूर कर दिया; उनमें एक प्रकार का स्फुट भाव आ गया था, वे हँस रही थीं।

'हाँ, अब ठीक है', कहकर मूर्तिकार ने टाँकी और हथौड़ी एक ओर रख दी, किन्तु उसकी दृष्टि थी मूर्ति के ऊपर ही। वह टकटकी लगाकर उसे देख रहा था, मानो अपने नेत्रों द्वारा उसे पी जायगा। उसकी आँखों में सन्तोष था, अधरों पर आनन्द की रेखा थी, और उस मूर्ति को देख-देख कर वह स्वयम् ही पत्थर की मूर्ति बन रहा था। सहसा चबूतरे पर खिले हुए कुछ फूलों पर उसकी दृष्टि पड़ी। मूर्तिकार के मन में आया, इन फूलों से मूर्ति का शृङ्गार किया जाय। उसने उठकर मुट्ठी भर फूल तोड़ लिये। मूर्ति का शृङ्गार हुआ, किन्तु फूलों से मूर्ति की शोभा बढ़ गयी या मूर्ति से फूलों की सुकुमारता, यह बतलाना कठिन था। फूलों की सृष्टि यदि मूर्तिकार की टाँकी के स्पर्श से हुई होती तो मूर्ति को पत्थर की मान लेने में कोई हर्ज नहीं था, किन्तु जब उनमें सजीवता का भाव था, तब मूर्ति को गति-हीन मान लेना कल्पना से परे था। स्वयम् मूर्तिकार को ऐसा जान पड़ा मानो वह मूर्ति अपने अधरों और नेत्रों की मूक-भाषा द्वारा उससे बातचीत कर रही है।

सहसा उसके मुँह से निकला—'ओहो ! कैसी सुन्दर वस्तु है !' उसकी दृष्टि चबूतरे के चारों ओर झुरमुटों के भीतर उड़ने वाले कुछ जुगनुओं पर पड़ी थी। उसने हाथ बढ़ा कर एक को पकड़ लिया। जुगनू रह-रह कर उसके हाथ में चमकने लगा। 'कैसा चमकदार है !' साथ ही उसके मन में न जाने कौन-सी बात आयी कि वह खुशी के मारे उछल पड़ा। अब की बार उसने बहुत से फूल तोड़ कर एक मुकुट बनाया और उसकी एक-एक कली के भीतर जुगनुओं को पकड़-पकड़ कर बन्द कर दिया। जुगनुओं के सहवास से मुकुट की सुन्दरता में सजीवता आ गयी। वे कभी तो चमकते और कभी अपना चमकना बन्द कर देते। मानों प्रकाश के वे नन्हे-नन्हे बच्चे उन फूलों की भूल-भुलैयों में आँख-मिचौनी खेल रहे थे।

उस मुकुट से उसने मूर्ति का मस्तक सज्जित किया। मूर्ति के सर्वाङ्ग पर हीरों की छटा छिटक पड़ी और मूर्तिकार अपने सम्मुख सौन्दर्य की उस सजीव प्रतिमा को देख बालकों की भाँति ताली बजाकर प्रसन्न होने लगा। वह न जाने कब तक एकटक होकर उसकी ओर देखता रहा। विषधर सर्प के आकर्षण से जैसे कोई पक्षी उसकी ओर खिँचा चला जाता है, वैसे ही मूर्तिकार का हृदय मानो उसकी ओर खिँचा जा रहा था। धीरे-धीरे उसकी आँखें झप गयीं। उसे तन्द्रा आ गयी।

(२)

चन्द्रमा की धुली हुई चाँदनी में वनदेवी ने उस मूर्ति को देखा। अपनी प्रतिच्छवि को ऐसे सुन्दर रूप में प्रस्फुटित हुआ देख कर वह मन

में फूली न समायी। वह बोली—'अहा ! मैं कैसी सुन्दर हूँ !' फिर उसने मूर्तिकार के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—

'मूर्तिकार !'

'देवि !'

'मैं तुम्हारा कला-चातुर्य देख कर तुम पर मुग्ध हूँ। चाहती हूँ, तुम्हें कुछ पुरस्कार दूँ।'

'पुरस्कार ।'

'हाँ !'

'किस बात का !'

'तुम्हारे परिश्रम का !'

मूर्तिकार के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। अब तक उसने अपने अन्तरतम की निगूढ़ भावनाओं को जितने रूप दिये थे, वे सब अपने को मुग्ध करने के लिए, किन्तु उन्हें देखकर दूसरे भी मुग्ध हो सकते हैं और मुग्ध होकर उसे पुरस्कृत भी कर सकते हैं, यह उसके लिए बिल्कुल नयी बात थी। वह भौंचक-सा होकर वनदेवी की ओर देखने लगा। वनदेवी ने कहा—'मूर्तिकार, तुम बड़े भोले हो। तुम्हारी इस सृष्टि में यदि एक कसर न होती, तो इस पर ईश्वर की सैकड़ों सृष्टियाँ निछावर थीं।'

इस प्रशंसा से मूर्तिकार की छाती फूल गयी।

वनदेवी कहती गयी—'किन्तु मैं तुम्हारे लिए इस कसर को पूरा कर दूँगी। मैं आज तुम्हें ऐसा पुरस्कार देने आयी हूँ, जिसे पाकर तुम्हारे जीवन की कला में कवित्व आ जायगा।'

मूर्तिकार ने हर्ष से गद्‌गद् होकर कहा—'वह कौन सा पुरस्कार है, देवि !'

'यह लो', कहकर वनदेवी ने मूर्तिकार के हाथ में एक डिबिया रख दी। उसने कहा—'इस डिबिया में अखिल ज्योति की एक किरण बन्द है। इस किरण को मूर्ति के भीतर प्रतिष्ठित कर देना। देखोगे, तुम्हारे परिश्रम का इससे श्रेष्ठ पुरस्कार और कुछ नहीं हो सकता।' और वन-देवी अन्तर्धान हो गयीं।

मूर्तिकार को घड़ी-भर का भी सब्र नहीं हुआ। पागल की तरह झट से डिबिया खोली और उसके भीतर बन्द ज्योति की किरण मूर्ति के भीतर प्रतिष्ठित कर दी। मूर्तिकार का ऐसा करना था कि सहसा मूर्ति की भौहें हिलने लगीं। नेत्रों की पुतलियों ने अपना पूर्व स्थान त्याग दिया। ओंठ दो नवीन किशलय-दलों की भाँति कम्पित हो उठे। मस्तक पर के घन-कृष्ण केश स्वप्नोत्थित भ्रमरावलि की भाँति वायु में लहराने लगे। महान आश्चर्य से चकित और स्तम्भित मूर्तिकार ने और भी देखा—पत्थर की श्वेत रेखाओं में रुधिर की लालिमा आ चली, उनकी कठोरता में सुकुमारता का आभास मिलने लगा। दाहिना हाथ भी कुछ हिला। पैरों में गति-सी आ गयी। सहसा उसके देखते ही देखते वह घनीभूत सङ्गीत युवती के यौवन की तरह तरङ्गित हो उठा। रूप की हिलोरें उठने लगीं। नेत्रों की कटोरियों में एक ही संग अमृत और हलाहल छलकने लगा। अधरों में हँसी की रेखा फूट पड़ी।

मूर्ति ने एक बार कटाक्ष करके मूर्तिकार की ओर देखा। आह! उस दृष्टि में न जाने क्या था। वह तो मुग्ध हो गया। अपने को सँभाल न सका। वह कुछ आगे बढ़ा। मूर्ति झिझक कर पीछे हट गयी। मूर्तिकार ने विक्षिप्त की भाँति दोनों हाथ फैलाकर कहा—'आह! कैसा रूप है! अब तुम कहाँ जाती हो? यह खुले हुए खेत हैं, यह नाला है, यह मैं हूँ। आओ, हम और तुम दोनों मिलकर विजन वन में नन्दन-कानन की सृष्टि करें। विश्वास करो, आज से मैं इन बेडौल पत्थरों का गढ़ना छोड़कर तुम्हारी ही पूजा किया करूँगा। तुम्हीं मेरी आराध्य हो, तुम्हीं मेरी साधना हो। आओ, एक बार मुझे अपने इन अधरों की रूप-माधुरी पिला दो, मरा जा रहा हूँ।' और उसने बड़े आवेश के साथ मूर्ति को अपने भुजबन्ध में कस लिया।

सहसा वह चौंक पड़ा। किसी कठोर और शीतल पदार्थ के स्पर्श से उसकी तन्द्रा भङ्ग हो गयी। उसने अलसायी हुई आँखों से अपने सामने देखा। जुगनू उड़ गये थे। एक काले बादल ने चन्द्रमा को छिपा कर प्रकृति को काली चादर से ढँक दिया था। मूर्तिकार मूर्ति छोड़कर एक ओर खड़ा हो गया। उसने अपनी आँखें मलीं। 'ओफ! मैं जाग रहा था या सो', कह कर वह सन्ध्या-दीप प्रज्ज्वलित करने अपनी अँधेरी झोपड़ी में चला गया।

करीम मर गया



१८५७ का सन् । जून का महीना । दिन ढल चुका है, पर सूर्य की तिरछी किरणें अब भी आग बरसा रही हैं ।

उरई से कालपी जाने वाले मार्ग पर एक चौपहिया गाड़ी कुछ यात्रियों को लेकर पथ की धूल उड़ाती हुई तेज़ी से आगे बढ़ रही है । गाड़ी के घोड़े धूल और पसीने से लथपथ हैं । मुँह में फेन भरा है, और पसलियाँ धौंकनी की तरह चल रही हैं । कोचवान को फिर भी उन पर दया नहीं । पीठ पर चाबुक पर चाबुक छोड़ रहा है, मानो उसके स्वामियों ने पृथ्वी के दूसरे छोर पर ही विश्राम करने की शपथ खायी है ।

गाड़ी में जो यात्री हैं, उनकी अवस्था घोड़ों से कम शोचनीय नहीं । गाड़ी में स्थान की कमी की वजह से एक दूसरे पर लदे बैठे हैं । मूक और निश्चेष्ट । पथरीला मार्ग है । ठोकर लगती है, तो निर्जीव गठरियों की भाँति ऊपर उछल जाते हैं और सिर पर एक दूसरे से टकराते हैं । पर वे न ऊः करते हैं, न आः । मानो किसी भयानक विपत्ति की प्रतीक्षा में हैं जिसकी तुलना में उनका यह कष्ट बिलकुल ही नगण्य है ।

को देख कर ठिठक गये और कौतूहल भरी दृष्टि से देखने लगे। कोचवान ने अँगोछे से अपना मुँह पोंछा, और आराम की साँस लेकर इतनी देर बाद बोला, 'बाप रे! दिन डूबने को आया। फिर भी आग बरस रही है। आज कहीं चैन भी मिलेगा!' फिर धूल से भरी दाढ़ी और ढीले एवम् फटे पायजामे को देखकर कहने लगा, 'कैसी क़लन्दर जैसी शकल बन गयी है। झाँसी से कालपी तक की सारी धूल मानो मेरे ही सिर पर आयी है!'

एक भले नागरिक को पास से गुज़रते देख कर उसने गाड़ी रोकी और पूछा, 'क्यों साहब, यहाँ कहीं पानी भी मिलेगा?'

यात्री सिर उठा कर व्याकुल, शून्य दृष्टि से उस व्यक्ति को देखने लगे, मानो सब के सब उससे कुछ कहना चाहते थे।

नागरिक ने उत्तर दिया, 'क्यों नहीं, आगे कुँआँ है, प्याऊ भी है।'

कोचवान ने आगे बढ़ने के उद्देश्य से घोड़ों की पीठ से चाबुक स्पर्श किया। यात्रियों पर दृष्टिपात करके नागरिक ने विस्मित भाव से पूछा, 'तुम्हें जाना कहाँ है?'

'कहाँ बताऊँ!' कोचवान को कदाचित् स्वयम् ही अपने गन्तव्य स्थान का पता नहीं था। परन्तु उस व्यक्ति के सफ़ेद बाल और भद्रजनोचित वेश-भूषा देख कर वह बोला, 'जहाँ क़िस्मत ले जाय लालाजी!'

भद्र पुरुष ने प्रश्न किया—'तो क्या चले ही जाओगे? रात्रि में आराम नहीं करोगे? घोड़े तो इस लायक़ हैं नहीं कि आगे जायँ!'

कोचवान बोला, 'आराम तो सब कुछ करना चाहता हूँ, मगर कहीं ठिकाने की जगह मिले, तब तो। इन अँगरेज़ों के पीछे बाग़ी हैं। कल सवेरे झाँसी छोड़ी थी, तब से बराबर चल रहा हूँ। आराम कैसा होता है, घड़ी भर के लिए भी नहीं जाना। आपको क्या बताऊँ साहब, कैसी मुसीबत में पड़ कर इन अँगरेज़ों को बचा पाया है। झाँसी से भाण्डेर गया। वहाँ से कोंच। कोंच से आज उरई। वहाँ बहुत कोशिश की कि कोई इन लोगों को अपने घर में छिपा ले, मगर जानबूझ कर कोई ऐसी मुसीबत क्यों लेने लगा! जहाँ सुना कि इनके पीछे बाग़ी हैं, सब ने किवाड़ बन्द कर लिये। कल से बेचारों के मुँह में दाना नहीं गया। सारी दोपहरी सिर पर बीती है। उरई में पानी पिया था। खाने को वहाँ भी नसीब नहीं हुआ। तब से यहाँ गाड़ी रोकी है।'

कोचवान की लम्बी दाढ़ी और ढीला पायजामा देख कर उन सज्जन ने कहा, 'ख़ाँ साहब, आपने बड़ी ग़लती की जो इन अँगरेज़ों को इस रास्ते से लाये। आपके लिए तो इन दिनों सब तरफ़ मुसीबत ही मुसीबत है। वहाँ ख़न्दक से बच कर आये हैं तो यहाँ खाई है। कालपी आजकल बाग़ियों का अड्डा हो रहा है। दो दिन से राव साहब यहीं क़िले में पड़े हैं। यदि आप सचमुच इन अँगरेज़ों को बचाना चाहते हैं, तो यहाँ से उलटे पैरों लौट जाइये। रात में कहीं रहिये, मगर बस्ती में मत जाइये।'

कोचवान सहसा चौंक उठा। अपनी मौत की ख़बर पाकर भी शायद उसके मुँह का भाव इतना न बिगड़ता, जितना उन भद्र पुरुष

के मुँह से उपर्युक्त समाचार सुन कर। उसे कालपी की स्थिति का पता नहीं था, अन्यथा इस रास्ते पर वह हरगिज़ क़दम न रखता। बोला, 'भाई साहब, ये सात प्राणी इस वक्त मेरे लिए दुनिया की बड़ी से बड़ी नियामत से भी बढ़ कर हैं, क्योंकि अपनी जान जोखिम में डाल कर मैं इन्हें बचा कर लाया हूँ। मगर आपने तो यह बुरी ख़बर सुनायी। रात के वक्त कहाँ जाऊँ? जङ्गल में तो रहूँगा नहीं। कोई सुभीते की जगह बताइये, जहाँ ये रह सकें, और कुछ खाने-पीने को भी मिल सके। दो दिन हो गये, इनके मुँह में दाना नहीं गया।'

भद्र पुरुष कुछ विचलित से होकर बोले, 'यह ख़ूब रही, ख़ाँ साहब, जो रास्ता बतावे, वही आगे हो। मैं तुम्हें कौन-सा स्थान बता दूँ? यहाँ तो कोई धर्मशाला भी नहीं है। एक है, मगर वहाँ तुम हिफ़ाजत से रहोगे, यह कैसे विश्वास दिला सकता हूँ।'

कोचवान गाड़ी से नीचे उतर आया और भद्र पुरुष का हाथ पकड़ कर कातर स्वर में बोला, 'इन अँगरेज़ों पर रहम खाइये, भाई साहब! बड़ा पुण्य होगा, इन्हें आप बचा लेंगे तो। कोई तरकीब सोचिये कि ये ख़ैरियत से रह सकें।'

भद्र सज्जन कोचवान के मुँह की ओर देख कर बोले, 'भाई, मैं क्या तरकीब सोचूँ?'

'तरकीब तो आसान है, अगर आप चाहें। आज रात के लिए इन्हें आप अपने घर में जगह दे दीजिये।' कोचवान ने तुरन्त अपनी बात कह डाली।

भद्र पुरुष अवाक् होकर उसे देखने लगे। क्षण भर के लिए स्वयम् यह विचार उनके हृदय में उठा था कि इन विपद्ग्रस्त अँगरेज़ों को अपने घर ले चलें, परन्तु यह विचार तुरन्त ही विलीन हो गया। उन्होंने कहा, 'यह तो बहुत मुश्किल है।'

कोचवान बोला, 'नहीं, जनाब, कुछ मुश्किल नहीं। पुण्य का काम करने में भी कभी किसी को कठिनाई हुई है? क़सम से कहता हूँ, किसी को कानोकान ख़बर नहीं होगी। अँधेरा हो ही चला है। दो-तीन दिन के लिए अपने घर का कोई अँधेरा कमरा ख़ाली कर दीजिये।'

'सो तो मेरी हवेली में ऐसे कई कमरे हैं,' भद्र सज्जन बोले।

'बस-बस, किसी एक में छिपा दीजिये। ईश्वर आपको चिरायु करे। ज़रा ख़याल कीजिये इनकी मुसीबत का। दो दिन से मौत का ख़्वाब देख रहे हैं। आप जब कालपी का यह हाल बताते हैं, तो भगवान् ही इनका मालिक है।'

भद्र सज्जन चुप रहे। जान-बूझ कर इस मुसीबत को मोल लेना बुद्धिमानी होगी, अथवा नहीं, यही सोच रहे थे। तब तक कोचवान ने फिर कहा, 'मुझे एक-एक घड़ी एक-एक युग के समान जान पड़ती है। और इन सब को प्यास लगी है।'

भद्र सज्जन ने कुछ देर बाद धीरे से कहा, 'देखिये, घबराइये नहीं। वही सोच रहा हूँ। इन लोगों को किस प्रकार हवेली तक ले चलूँ। अगर राव साहब के किसी आदमी को ख़बर हो गयी, तो मेरे मकान की एक ईंट भी नहीं बचेगी।'

कोचवान समझदार था, चुप हो गया, और खुशी खुशी अपने मालिकों से बात करने लगा। उसमें से एक अँगरेज़ टूटी-फूटी हिन्दी समझ लेता था। उसने अपने साथियों को सारी परिस्थिति बतायी। गोरों को जीवन की बहुत आशा नहीं थी। वे अपने को मृत्यु के उस किनारे पर खड़ा हुआ समझ रहे थे, जहाँ से कोई वापिस नहीं लौट सकता। निराशा के इतने बड़े अन्धकार में आशा की यह ज्योति ऐसी थी, जिसका दर्शन पाकर वे पल भर में यात्रा का सारा कष्ट भूल गये। उन सब की कृतज्ञ दृष्टियों ने भद्र सज्जन पर धन्यवाद की अजस्र वर्षा की। उनमें से जो थोड़ी हिन्दी जानता था, वह बोला, 'हम तुमको बहुत रुपया देगा। इतना रुपया कि तुमने कभी देखा न होगा। तुम हमको धोखा नईं देगा ? क्यों ?'

कोचवान बोल उठा, 'आप कैसी बात करते हैं ? साहब ! ऐसे मौकों पर हम लोग अपने दुश्मन को भी धोखा नहीं देते।'

भद्र सज्जन ने विपत्ति के मारे उन गोरों को अपनी हवेली में स्थान दिया। उनको हवेली के ऐसे खंड में छिपा कर रक्खा, जहाँ कोई परिन्द भी पर नहीं मार सकता था, और अपने विश्वासपात्र नौकरों को समझा दिया कि इस विषय में वे बिलकुल ख़ामोश रहें। किसी से इन गोरों का ज़िक्र न करें, क्योंकि ये अपनी शरण आये हैं और शरणागत की रक्षा करना प्राणि-मात्र का परम कर्त्तव्य है।

(२)

लाला हरजूमल की हवेली के सामने इमली का जो विशाल वृक्ष है, उसके नीचे चार व्यक्ति बैठे तमाखू पी रहे हैं। उनमें से एक तो वही

कोचवान है, शेष लाला हरजूमल के लठैत। कोचवान को यहाँ आये दूसरा दिन है। इस बीच में आज सन्ध्या समय ही वह हवेली से बाहर निकला है और हरजूमल के लठैतों से बात कर रहा है। चारों ख़ूब चौकन्ने होकर बैठे हैं, धीरे-धीरे बात कर रहे हैं, मानो किसी विपत्ति की छाया उनके सम्मुख है। करीम—वही कोचवान—उन लोगों को झाँसी के विद्रोह की आँखों देखी लोम-हर्षण कहानी सुना रहा है। किस प्रकार सिपाहियों ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया, बलवे की आग किस तरह सुलगी, किस तरह बलवाइयों ने अँगरेज़ अफ़सर और उनके बाल-बच्चों को निर्दयता-पूर्वक वध किया, किस प्रकार महारानी ने तरस खाकर अवशेष अँगरेज़ स्त्रियों और बच्चों को राजमहल में आश्रय दिया और क़िले में छिपे हुए अँगरेज़ों को किस गुप्त रीति से सहायता पहुँचाती रहीं, इसके बाद विद्रोहियों ने किस प्रकार महारानी को राजमहल में घेर लिया और महारानी ने उनसे अपना पिण्ड कैसे छुड़ाया। अन्त में उसने अपनी राम-कहानी सुनायी। किस तरह वह इन अँगरेज़ों को लेकर अपने घर में घास के ढेर के भीतर दो दिन तक छिपा रहा और किस तरह उन्हें बचा कर यहाँ ले आया इत्यादि।

कहानी लम्बी थी, और लठैत भय एवम् आश्चर्य-मिश्रित एकाग्रता से उसे सुन रहे थे। सहसा पीछे किसी के भारी पैरों की आहट सुनायी दी। चारों ने ऊपर नज़र की। दो लट्ठबन्द जवान उनके सामने थे। कमर में तलवार, हाथों में आदम-क़द मज़बूत लट्ठ। चारों की दृष्टि जहाँ की तहाँ थम गयी। कुछ पूछना चाहते थे, इसके पहले ही नवागन्तुकों में से एक ने अपनी भारी आवाज़ में कहा—'हरजूमल है?'

लठैतों में से एक ने कहा—'नहीं हैं।'

'कहाँ गये हैं ?'

'गोपालपुरा।'

'कब आवेंगे ?'

'पता नहीं। तुम अपना मतलब कहो।'

'हमारा मतलब तो सीधा है। वह हरजूमल के बिना भी सिद्ध हो सकता है। परसों यहाँ सात अँगरेज़ आये हैं। इसी चौपहिया गाड़ी पर जो यहाँ रक्खी है।'

सुनते ही करीम के पैरों तले की ज़मीन खिसक गयी। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। वह अपनी जगह पर प्रकृतिस्थ खड़ा रहा, यही बड़ी बात थी।

वह लट्ठबन्द व्यक्ति कहता गया—'हरजूमल ने उनको अपनी हवेली में छिपा रक्खा है। राव साहब को पक्की ख़बर मिली है। उन्हीं अँगरेज़ों को चाहते हैं। कहाँ हैं वे लोग ? बोलो।'

अब तक तीनों लठैत उठ कर खड़े हो गये थे। एक ने महान् आश्चर्य की मुद्रा बना कर गम्भीरता पूर्वक उत्तर दिया—'कैसे ? कहाँ के अँगरेज़ ? आप क्या कह रहे हैं ? राव साहब को ग़लत ख़बर मिली है। यहाँ कोई अँगरेज़ नहीं है। आया भी हो, तो हमें क्या पता ?'

पहला आगन्तुक त्यौरी बदल कर बोला—'देखो इन व्यर्थ की बातों में कुछ नहीं रक्खा। हरजूमल इस मामले में है, वरना हमारे पास

ऐसी दवा है कि तुम तो क्या, तुम्हारे पीर आकर बतायेंगे कि हरजूमल ने अँगरेज़ों को कहाँ छिपा रक्खा है।'

वही लठैत सँभल कर बोला—'हवेली पड़ी है, आप खुशी से देख सकते हैं। एक घर, जहाँ स्त्रियाँ हैं, छोड़ कर सब जगह जाइये। अथवा आपकी मर्ज़ी हो, तो स्त्रियाँ भी बाहर आ जायँगी। अभी प्रबन्ध किये देता हूँ।'

दूसरा आगन्तुक बोला—'अँगरेज़ हवेली में नहीं है, यह तो मान लिया, मगर यह चौपहिया गाड़ी तो उन्हीं अँगरेज़ों की है, जो परसों उरई से यहाँ भाग कर आये हैं। इसके पहले गाड़ी यहाँ नहीं थी। क्या कहते हो ?' और वह तीखी नज़र से लठैत के मनोभावों को ताड़ने का प्रयत्न करने लगा।

लठैत सचमुच कुछ अचकचा गया। करीम ने तुरन्त उत्तर दिया—'हरजूमल ने अभी ख़रीदी है कानपुर के एक व्यापारी से।'

आगन्तुक ठहाका मारकर हँस पड़ा—'ठीक कहते हो ख़ाँ साहब! हरजूमल ने कानपुर या झाँसी के जिन व्यापारियों से यह सौदा किया है, हम उन्हीं को चाहते हैं। सीधे-सीधे बता दो कहाँ हैं, वरना तुम्हारी दाढ़ी की आज ख़ैरियत नहीं।'

तीनों लठैत एक क़दम आगे बढ़ आये। एक ने अपना लठ सँभाल कर कहा—'देखिये साहब, ज़बान क़ाबू में रखिये। आपको राव साहब का आदमी समझ कर हमने कुछ नहीं कहा, वरना हमारे मालिक की भी इतनी इज़्ज़त है कि उनके नौकरों से आप तू-तड़ाक करके नहीं बोल सकते। यहाँ अँगरेज़-वँगरेज़ नहीं हैं। राव साहब से कह दीजिये।'

पहला आगन्तुक कड़क कर बोला—'हैं, या नहीं यह अभी मालूम हुआ जाता है।' उसने मुँह से एक विशेष संकेत किया। गली में छिपे हुए बीस-पचीस जवान सामने आ गये। करीम और उन तीनों लठैतों के नेत्रों के समक्ष मानो अँधेरा छा गया। उसी पहले लठबन्द ने कहा—'अब क्या कहते हो?'

हरजूमल के एक लठैत ने जवाब दिया—'जो पहले कहा था।'

उसने एक बलवाई को संकेत करके कहा—'रज्जब अपने पास इतना वक्त तो है नहीं कि हरजूमल की हवेली की भूलभुलैयों में घंटों ठोकरें खाते फिरें। वह देखो, उस गाड़ी के पीछे बहुत-सी घास रक्खी है। उससे काम न चले तो तेल के कनस्टर लाओ। औरतों से हमें कुछ मतलब नहीं। ख़बर कर दो कि सब बाहर आ जायँ। और, फिर हवेली में आग लगा दो। देखें अँगरेज़ हैं या नहीं।'

करीम घबरा उठा। तब तक दूसरे ने कहा—'मगर एक इससे भी आसान तरीक़ा है। हवेली क्यों जलायी जाय? रज्जब, वह सब घास इस पेड़ के नीचे लाओ और चार रस्से तलाश करो। मुझे मुरदे के मुँह से भी बात कराने का मन्तर मालूम है, समझे। हरजूमल के ये चार नौकर तो चीज़ ही क्या हैं?'

किसी ने भी इसे धमकी नहीं समझा। बाग़ियों ने भी नहीं, और इमली के उस विशाल वृक्ष के तले खड़े हुए उन चार व्यक्तियों ने भी नहीं। पेड़ से टाँग कर जीवित जलाये जाने की कल्पना-मात्र से लठैतों का सर्वाङ्ग कंटकित हो गया। उन्होंने व्याकुल दृष्टि से एक दूसरे के प्रति



करीम अब भी लटका हुआ था। विद्रोही अब भी इस क्रूर लीला पर अन्तिम पटाक्षेप करके ही वहाँ से जाना चाहते थे। उन्हें अन्त तक यही आशा थी कि यह बूढ़ा मुसलमान अवश्य कुछ भेद बतायेगा। परन्तु करीम कह रहा था—'मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानता। मैं कुछ नहीं जानता। क़ुरान की क़सम, मैं कुछ नही जानता।'

करीम के मस्तक के बाल चिट-चिट करके जल उठे और उनकी दुर्गन्ध से आस-पास का वायु व्याकुल हो उठा।

धुआँ हवेली की सब से ऊँची मन्ज़िल तक पहुँच चुका था। उस मन्ज़िल के एक सब से छोटे झरोखे में किसी के दो भूरे नेत्र थोड़ी देर तक चमक कर फिर अन्तर्धान हो गये। जिस अँधेरी कोठरी का यह झरोखा है, उसके द्वार का पता नहीं चलता। उसमें सात प्राणी बैठे मानो चारों ओर यमदूत की परिछाइयाँ देख रहे हैं। उनमें से एक ने झरोखे से सिर अलग करके जीवनमृत-जैसे व्यक्ति के स्खलित स्वर में कहा—'बाग़ी हैं।'

सुनते ही उस अँधेरे में सबके चेहरे स्याह पड़ गये। 'करीम को जला रहे हैं।'

'जला दिया।'

'हाँ।'

'वह कुछ कहेगा तो नहीं, धोखा तो नहीं देगा? हे भगवान, रक्षा करो, रक्षा करो।'

'नहीं, वह धोखा नहीं देगा।'

वे दोनों भूरे नेत्र फिर झरोखे के पास आ लगे ।

उसी समय करीम की निर्जीव-प्राय, अधजली देह घास के ढेर पर गिर पड़ी । करीम के प्राण-पखेरू उड़ गये थे ।

वे दोनों नेत्र फिर झरोखे से ग़ायब हुए । उस कोठरी में एक अस्पष्ट लहर उठी—'करीम मर गया ।'

'मर गया ?'

'हाँ ।'

सातों प्राणियों ने एक लम्बी साँस छोड़ी । वह साँस झरोखे से बाहर निकल कर करीम के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए मानो उसकी स्वर्गीय आत्मा का अनुगमन् कर चली ।

उद्धार

ग्रीष्म ऋतु की सन्ध्या थी। वायु निस्पन्द थी। किसी भावी भय की आशंका से मानों पादपवृन्द भी साँस लेने का साहस नहीं कर रहे थे। धूल धूसरित आकाश में सूर्य रुपहली थाली के समान जान पड़ता था। वह कुछ उदास था। बादलों की दो-चार टोलियाँ उसे इधर-उधर से घेरे हुए थीं, जैसे श्रीमानों की अस्तमान श्री को विपत्तियाँ घेरे रहती हैं।

पक्षी अपने नीड़ों में विश्राम पाने के लिए पूर्व से पश्चिम की ओर उड़े जा रहे थे। ढोर धीर-मन्थर गति से घंटियाँ बजाते हुए गाँव की तरफ़ चल रहे थे। स्त्रियाँ लकड़ी और उपले बटोर कर घर लौट रही थीं। खेत के उस तरफ़ पगडण्डी पर भैंसों का एक बगर आ रहा था। उसके पीछे दो युवक थे। परस्पर बातें करते आ रहे थे। एक ने कहा—'सुखदेव, आज काली की सगाई है। चलो जल्दी चलें।'

सुखदेव बोला—'मुझे नहीं मालूम। मैं दो दिन से घर नहीं था।' फिर उसने रुक कर कहा—'हरिदास के साथ पक्की हुई है?'

'हाँ' दूसरे ने कहा।

'वह तो बिल्कुल ऊदबिलाव है। ढोरों के पीछे जब कन्धे पर डण्डा रख कर बाहर निकलता है तो ऊँट मालूम होता है। मुझे डर है कि मैं कहीं ढोर समझ कर उसे एकाध दिन खदेड़ न बैठूँ।'

'क्यों?'

'अरे यों ही। मुझे उसकी सूरत अच्छी नहीं लगती।'

'और काली की सूरत कौन अच्छी है। जोड़ ठीक ही मिला है।'

सुखदेव खीझ कर बोला 'ठीक है। ऊँट के गले से बिल्ली बँधेगी।'

'सो क्या हुआ। लड़कियाँ बहुत जल्दी बढ़ती हैं। दो साल बाद देखना वह हरिदास से ऊँची निकल जायगी।'

'तुमसे तो बात करना फ़िजूल है। अरे, कहाँ काली और कहाँ हरिदास! रङ्ग काला हुआ तो क्या, परन्तु वैसी लड़की असफेर में कहीं नहीं मिलेगी।'

'छिः! छिः! हँड़िया सी शकल है। उसी की तारीफ़ करते हो।'

परन्तु सुखदेव ने न जाने क्यों काली का पक्ष ग्रहण करना अब और भी आवश्यक समझा। वह बोला—'रङ्ग से क्या, उसकी छवि देखो, कैसी सुन्दर है! गोल चेहरा, आम की फाँक जैसी बड़ी-बड़ी आँखें, मोती की पंक्ति जैसे चमकीले दाँत, घनी काली भौंहें। हमेशा हँसती रहती है। उस मनहूस हरिदास के साथ उसका विवाह करना मानों भैंस के गले में फूलों की माला डाल देना है।'

उसके साथी ने सुखदेव को एक भेदभरी दृष्टि से देख कर कहा "तुम्हें यह सम्बन्ध इतना बुरा क्यों लगा ? क्या इसलिए कि शिवदीन को दहेज में दस भैंसें मिलेंगी ?"

'दस नहीं, बीस मिल जायँ। गधा किसी की दाखें खाय, मुझे इससे क्या। मगर ऐसी अनहोनी बात देख कर दुख होता ही है।' सुखदेव ने किञ्चित क्षुब्ध होकर उत्तर दिया।

इस समय दोनों बस्ती के निकट पहुँच गये थे, इसलिए चुप हो गये।

(२)

शिवदीन माते के दरवाज़े बाजे बज रहे थे। आज उसके पुत्र हरिदास की बोली टूटेगी। सगाई गाँव में ही हुई थी। लड़की का बाप नहीं था। केवल माँ थी। वैसे शिवदीन को लड़की पसन्द नहीं थी। परन्तु गाँव वालों के कहने सुनने, अथवा लड़की की माँ ने दस भैंसें देने को कहा था, उनके लोभ से वह उस काली लड़की से अपने पुत्र का सम्बन्ध करने पर राज़ी हो गया। हरिदास ने इसमें कोई आपत्ति नहीं की। उसे यदि किसी बात का शोक था तो ढोर चराने का। अपने बगर में कल्पना की आँखों से हाथी जैसी दस काली दुधार भैंसें चरती देख कर वह ख़ुशी से फूल उठा।

बस्ती बहुत छोटी थी। नाम था पृथिवीपुरा। मुश्किल से [illegible] घर होंगे। उन घरों के सभी निवासी, बालक से लेकर वृद्ध तक, ा। स्त्री से लेकर पुरुष तक शिवदीन माते के दरवाज़े पर मौजूद थे।

यद्यपि किसी प्रकार के राग-रङ्ग या रण्डी के नाच होने की कोई पूर्व सूचना नहीं थी; परन्तु पुत्र की सगाई के समय माते के घर एक-एक अंजलि बताशे बँटेंगे, इसमें सन्देह नहीं था। इसलिए सभी ख़ुश थे। केवल नीम के नीचे बैठे हुए एक व्यक्ति के गले में पड़ा हुआ ढोल कभी-कभी उसके कर्कश कराघात से व्याकुल चीत्कार कर उठता था। शायद इसलिए कि वह इस विवाहोत्सव में किसी प्रकार का योगदान नहीं करना चाहता था।

चबूतरे पर एक छोटी जाजम बिछी थी, जिस पर गाँव के पंच बैठे थे। पण्डित जी आ गये थे, केवल हरिदास के आने का विलम्ब था। उसे अभी पाग बाँधी जा रही थी। इधर लोग बताशों के लिए व्यग्र हो रहे थे। एक पंच ने चिल्ला कर कहा—'अरे हो, अभी तक बीस पागें बँध जातीं। कितनी देर है—'

किन्तु उसकी अन्तिम बात गाँव के बाहर बन्दूक़ की गूँजती हुई आवाज़ में लीन हो गयी। सभी झिझक कर सामने देखने लगे। बाजे बन्द हो गये। सहसा बन्दूक़ का दूसरा फ़ायर हुआ। घोड़ों की टापों की आवाज़ सुनायी पड़ी। लोग उठ खड़े हुए। साथ ही उस छोटे से जनसमुदाय में व्यग्र कोलाहल की एक अस्फुट ध्वनि उत्थित हुई—'राजधर आया! राजधर आया!!' क्षण भर तक लोग सन्नाटे में आकर ज्यों के त्यों खड़े रहे। फिर उनकी समझ में आया। सब के सब एकदम भाग खड़े हुए। हँसती जहाँ सींग समाये वहाँ दौड़ पड़ा। उस जनावास का वह छोटा सा स्थान बात की बात में ख़ाली हो गया। जैसे वहाँ कोई रहता ही न हो।

परन्तु यह राजधर कौन था, जिसके भय से भाई बहन की, पिता पुत्र की, पति पत्नी की, और सब के सब अपने घर-बार की चिन्ता छोड़ कर इस तरह भाग खड़े हुए थे ?

राजधर डाकू था।

वह विद्रोह के उफनते हुए समुद्र का फेन था। सन् सत्तावन के ग़दर ने जिस तरह भारतवर्ष में अशान्ति और अराजकता को जन्म दिया था, उसी तरह इन दोनों ने बुन्देलखण्ड में इस राजधर को पैदा किया था।

वह पचवारे का एक साधारण अहीर था। विद्रोह के उस ज़माने में जब कि अराजकता के शासन में व्यवस्था पंगु बनी बैठी थी, उसे सिर उठाने का मौक़ा मिल गया। शुरू में दो चार छापे मारे। उनमें सफलता मिली। लोग उसके नाम से डरने लगे। उसे अपनी इस सफलता पर गर्व नहीं था। वह केवल धन चाहता था। और जब लोग उसका आना सुन कर ही अपने घर के किवाड़ खुले छोड़ कर भाग जाते थे, तब उसे भीतर प्रवेश करने में बाधा ही कौन सी थी ?

राजधर घोड़े पर सवार था। उसके पीछे पाँच घुड़-सवार और थे। सब के हाथ में बन्दूकें थीं। कमर से तलवारें बँधी थीं। सप्तमी का चन्द्रमा अमराई में होकर छिप-छिप कर उन्हें देख रहा था। सहसा राजधर ने घोड़े की लगाम खींचकर कहा 'धीरज !'

'क्या है ?' उसके साथी ने पार्श्व में उपस्थित होकर उत्तर दिया।

'आदमियों की आहट आ रही ।'

'अच्छा !' और सबने लगाम खींची।

राजधर ने कहा 'लोग गाँव छोड़कर भाग रहे हैं। चलो।'

उसने घोड़े को एड़ लगायी। साथी भी चल पड़े! गाँव के पीछे बबूल के कुछ पेड़ों को पार करके वह बाहर निकला ही था कि फिर रुक गया। उसके सामने बरगद के एक सघन वृक्ष के नीचे आठ दस छायाएँ सिमटी खड़ी थीं। दूसरे क्षण वह घोड़ा बढ़ा कर उनके सम्मुख पहुँच गया। छायाएँ निस्पन्द हो गयीं। उसने ललकार कर कहा 'ख़बरदार! एक क़दम भी आगे बढ़े तो गोली छोड़ दूँगा। जिसके पास जो कुछ हो वह चुपचाप रख दो, और चले जाओ।'

वृक्ष के नीचे खड़े हुए लोगों में से कोई भी नहीं हिला।

राजधर ने चन्द्रमा के प्रकाश में एक व्यक्ति के गले में सोने का कंठा और कानों में स्वर्ण-कुंडल देखे। वह बोला 'धीरज, इस युवक का कंठा ले लो, और कुंडल उतरवा लो, प्रतिरोध करे तो दोनों हाथ काट लो।'

जिस युवक के गले में कंठा और कानों में कुंडल थे वह कम्पित स्वर में गिड़गिड़ा कर बोला—'यह लो कंठा अभी देता हूँ। यह लो—यह लो कुंडल भी देता हूँ। हाथ में अँगूठी है, वह भी उतारता हूँ—मुझे मारो मत।' उसने कुंडल देखे, कंठा देखा, अँगूठी देखी। उसकी समझ में नहीं आया कि वह पहले क्या उतारे। राजधर तब तक उसके सिर पर आकर खड़ा हो गया और प्रतीक्षा करने लगा।

युवक अभी अँगूठी उतार रहा था। इतने में उस त्रस्त जन-मंडली के भीतर से एक बालिका ने आगे बढ़ कर कहा—'यह लो मेरे झूमके और सोने के कंकण—'

राजधर ने चौंककर देखा। सामने तेरह चौदह वर्ष की एक बालिका खड़ी थी। अब तक वह वृक्ष की सघन छाया में छिपी थी, इस कारण किसी की उस पर दृष्टि नहीं पड़ी।

बालिका कहती गयी 'किसी के कुंडल मत उतरवाओ। किसी को मारने पीटने की ज़रूरत भी नहीं।'

राजधर ने उसके हाथ में झूमके देखे, और देखी उनसे भी अधिक उज्वल उसकी मुस्कराहट, मानों श्याम घन के भीतर स्थिर बिजली खेल रही हो। वह उसके मुखमंडल को देखने लगा। नेत्र चमक रहे थे, अधरों पर हँसी थी, चेहरे से निर्भीकता टपकती थी, उसने हाथ बढ़ा कर पुनः कहा—'लो झूमके।'

उस स्वर के आघात से राजधर के हृदय में न जाने कौन से स्वप्नलोक की कोमल वीणा बज उठी। उसने कहा—'लाओ।'

बालिका ने निकट आकर हाथ बढ़ा दिया। राजधर झुका, उसने स्निग्ध दृष्टि से क्षण भर के लिए उसका प्रफुल्ल मुखमंडल देखा। फिर उसने और भी नीचे झुक कर फुर्ती से उसकी बगल में हाथ डाल कर उसे फूल की तरह ऊपर उठा लिया, उसे घोड़े पर रक्खा, अपने साथियों को संकेत किया, घोड़े मुड़े; यह सब पल भर में होगया और दूसरे क्षण

डाकुओं का वह दल खुले खेतों में पहुँच कर क्षितिज की काली रेखा में अन्तर्धान होता दिखायी दिया।

(३)

अभी प्रभात होने में विलम्ब था। सुखदेव रात भर नहीं सोया। उसे अपना भय नहीं था, घर गृहस्थी के लुट जाने का भी डर नहीं था, उसे डर था अपनी वृद्ध माता का। उसे लेकर वह रात भर करौंदी के कुंज में छिपा पड़ा रहा। वह इस समय सोच रहा था कि अब विश्राम करूँ, या गाँव की खबर ले जाऊँ। इतने में उसने अपने सम्मुख एक छाया देखी। उसने ध्यान से देखने के उपरान्त कहा 'काली की माँ!'

काली की माँ कुछ नहीं बोली। धड़ाम से उसके सामने आकर गिर पड़ी और रोने लगी। सुखदेव ने उसे सँभाल कर उद्विग्न स्वर में पूछा, 'क्या है? अरे, कुछ बताओ भी।'

काली की माँ बोली—'हाय भैया, मैं तो लुट गयी। हत्यारे उसे पकड़ कर ले गये।'

'ऐं!' सुखदेव इससे अधिक और कुछ नहीं कह सका।

वह रोती हुई बोली 'मेरा तो भाग्य फूट गया। हत्यारे जाने कहाँ ले गये। साथ में हरदसा था, परमा था, बरजोर था, इनसे इतना भी नहीं बना कि उसकी रक्षा करते। तुम होते तो कुछ उपाय भी करते!'

यह नहीं कि विधवा की अन्तिम बात ने उसके हृदय में आत्मश्लाघा का भाव जाग्रत कर दिया हो, पर हरिदास का नाम सुन कर घृणा से उसकी भौंहें सिकुड़ गयीं, साथ ही काली की हँसती हुई सूरत उसके

नेत्रों के सम्मुख आ गयी। एक दफ़े उस बालिका के साथ उसके विवाह की चर्चा चली थी। परन्तु उसकी वृद्ध माता को ऐसी काली बहू घर में लाना स्वीकार नहीं हुआ। तब से सुखदेव ने उसका ध्यान ही छोड़ दिया था। पर आज यह सुनकर कि काली को राजधर उठा ले गया है और कायर हरिदास ने उसकी रक्षा का रत्ती भर भी प्रयास नहीं किया, उसका मन और स्थिर नहीं रह सका। उसने कहा, 'मा, तुम चिन्ता मत करो। मेरा नाम सुखदेव नहीं जो काली को खोज कर न लाऊँ।'

काली की मा को रत्ती भर भी विश्वास नहीं हुआ। राजधर से पल्ला ले सके ऐसी सामर्थ्य तो राजा में भी नहीं थी। उसने कहा—

'अब तो भैया, काली का मिलना मुश्किल है। भाग्य में जो लिखा था हो गया। राजधर के हाथ से—'

सुखदेव बीच ही में बोला—'मैंने कह तो दिया, काली शेर की माँद में भी क्यों न हो, मैं उसे ढूँढ़ कर लाऊँगा।'

और सुखदेव उसी दिन हाथ में एक कुल्हाड़ी ले मा से रानीपुर जाने की बात कह कर पचवारे के लिए रवाना हो गया।

(४)

पचवारे की वह छोटी सी बस्ती चन्द्रमा की चाँदनी में लीन, प्रगाढ़ निद्रा में मग्न पड़ी थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल कुत्ते किसी की आहट पाकर कभी-कभी ज़ोर से भोंक उठते थे, और प्रत्युत्तर में गाँव के बाहर सियारों का झुंड विकट चीत्कार करने लगता था।

सुखदेव ने सन्ध्या को ही राजवर के घर का पता लगा लिया था। पक्का दो मन्ज़िला मकान था। उसे विश्वास था कि राजवर आज अवश्य घर होगा। वह दो घन्टे से मकान के पीछे खाई में छिपा बैठा था। इस समय धीरे-धीरे उठा। निर्भय सिंह की भाँति मस्तक उठा कर चारों ओर देख कर पिछवाड़े की दीवार की ओर अग्रसर हुआ। वहाँ बहुत पुराना बबूल का पेड़ था। उसकी डालें छत का अग्र भाग स्पर्श कर रहीं थीं। सुखदेव यह स्थान सन्ध्या को ही देख गया था। धोती चढ़ा कर उसने कुल्हाड़ी सँभाली, और पेड़ पर चढ़ना शुरू किया। अभी वह आधी दूर ही गया होगा कि सहसा ऊपर से फड़फड़ाहट की आवाज़ आयी। वृक्ष के साथ-साथ सुखदेव का रोम-रोम काँप उठा। उसने ऊपर देखा। कोई वन्य पशु उसके आगमन से त्रस्त होकर उड़ने की तैयारी कर रहा है। वह मुस्करा दिया और अपनी क्षणिक दुर्बलता के कारण उसे जो लज्जा बोध हुई उसने सामने छत पर पहुँचने के लिए उसे दुगुना साहस प्रदान कर दिया।

वृक्ष की अन्तिम डाल पर पहुँच कर उसने धीरे से छत पर पैर रक्खा। छत से आँगन तक एक सीधा ज़ीना लगा हुआ था। सशंक दृष्टि से चारों ओर दृष्टिपात करके उसने दबे पैरों ज़ीना उतरना शुरू किया। बीच में एक और छत थी। उसका ख़याल न करके वह पहले आँगन में पहुँचा। वहाँ की निखरी हुई चाँदनी का उसके हृदय पर उलटा प्रभाव पड़ा। वह काँप उठा। इस घर में यदि किसी की भी उस पर दृष्टि पड़ गयी तो कुशल नहीं। बीच आँगन में पहुँच कर उसने देखा कि वह

जंगली रीछ की माँद में उपस्थित है। वह कुल्हाड़ी पर अपने शरीर का सारा भार डाल कर खड़ा होगया—निश्चल, निर्वाक—मानो इस प्रकार वह अपने प्रकम्पित हृदय की धड़कन ठीक करने का प्रयत्न कर रहा था। फिर उसने गर्दन उठायी। उसके सामने बरामदे में एक व्यक्ति लेट्य नींद के खुर्राटे ले रहा। सुखदेव बड़ी देर तक उसे देखता रहा। फिर आगे बढ़ा। उस सोये हुए व्यक्ति के आधे शरीर पर चन्द्रमा की परिछाईं पड़ रही थी। सुखदेव सोच रहा था। उसने कभी राजधर की आकृति नहीं देखी थी। उसने डाकू की कल्पना कर रक्खी थी—लम्बा डील-डौल, भरी हुई काली दाढ़ी, भयावना चेहरा। पर यहाँ ठिगने क़द का एक नौजवान चारपाई पर पड़ा प्रगाढ़ निद्रा में मग्न था। क्या यही राजधर है? क्या इसी के नाम से जवाँमर्दों के हौसले ढीले पड़ जाते हैं? क्या इसी के भय से वह कल रात भर करौंदी की कटीली झाड़ियों में छिपा पड़ा रहा? क्या यही व्यक्ति गाँव के दस हट्टे-कट्टे आदमियों के हाथ से काली को छीन लाया है? नहीं, यह राजधर नहीं है।

वह अग्रसर हुआ। चारपाई के निकट पहुँचा। क्षण भर तक उसे देखने के बाद उसने कुल्हाड़ी उठायी। फिर कुछ ठिठक गया, फिर धीरे-धीरे कुल्हाड़ी नीचे डाल कर बरामदे से बाहर निकल आया। और काली? उसे अब काली की याद आयी। पीछे एक कोठा था। उसकी कुन्डी चढ़ी थी। उसने धीरे से किवाड़ खोल कर भीतर प्रवेश किया। वहाँ कोई नहीं था। वह बाहर निकल आया और ज़ीना चढ़ कर बीच के कोठे में पहुँचा। क्षण भर बाहर ठिठक कर उसने भीतर प्रवेश किया।

'क्यों ?'

'आवश्यकता क्या है ? चलो हम लोग भाग चलें ।'

सुखदेव ठहर गया । कुछ सोचने लगा । फिर बोला, 'अच्छा देखा जायगा ।' उसने काली से अपना हाथ छुड़ाया । दोनों धीरे-धीरे बबूल से नीचे उतरे । खाई से बाहर होने पर सुखदेव ने पूछा—'काली ! तुम इस दुष्ट के हाथ कैसे पड़ गयीं ?'

काली ने सब क़िस्सा सुनाया । किस तरह राजधर हरिदास के कुंडल उतरवा रहा था, किस तरह वह उसे अपने झूमके देने के लिए आगे बढ़ी, और किस तरह उसने पकड़ कर उसे घोड़े पर बिठाल लिया ।

सुखदेव ने पूछा—'फिर ?'

'फिर कुछ नहीं ।'

'उसने तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं पहुँचाया ?'

'नहीं ।'

'जान पड़ता है वह तुम पर मुग्ध हो गया है, काली ।'

काली के दोनों कपोल और कर्ण-प्रदेश आरक्त हो गये ।

सुखदेव ने कहा—'उसने तुमसे कुछ कहा तो नहीं ।'

'नहीं ।'

'कुछ भी नही !'

'कहता था कि यदि मैं उसके साथ विवाह कर लूँ तो वह डाका डालना छोड़ देगा ।'

'तुमने क्या उत्तर दिया ?'

काली चुप रही।

सुखदेव ने क्षण भर चुप रहने के बाद पूछा—'यदि मेरे साथ तुम्हारी सगाई हो जाती, तो ?'

'तो क्या ?'

सुखदेव को अपने मन का भाव प्रकट करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिले। उसने कह दिया—

'तो तुम सुखी होतीं ?'

'परन्तु—'

'परन्तु क्या ?'

काली कुछ नहीं बोली। सुखदेव भी सहसा गम्भीर हो गया। रेंवजा और बबूल के घने जंगल पर दूर तक चन्द्रमा का हलका प्रकाश फैला था। काली जैसे किसी समस्या को लेकर व्यस्त थी और सुखदेव किसी प्रश्न का उत्तर जैसे अपने मन में खोज रहा था। दोनों इस प्रकार कितनी दूर तक गये पता नहीं। क्योंकि काली ने सहसा चौंक कर देखा कि उस निर्जन पथ पर वह अकेली जा रही है। हरिदास उसके साथ नहीं।

अनाथ बालक

कुछ दिनों से बस्ती में बालकों और स्त्रियों की चिकित्सा के लिए एक अस्पताल खुल गया है। अस्पताल ईसाई मिशनरियों का है। एक ईसाई डाक्टरनी और एक दाई रहती हैं। डाक्टरनी बड़ी भली मानुस हैं। विधवा हैं। बड़े घर की लड़की हैं। पति की सारी सम्पत्ति एक अनाथालय को दान देकर स्वयम् मिशन की सेवा किया करती हैं। अभी अस्पताल की इमारत नहीं बनी है; अतः बस्ती के भीतर किराये के मकान में रोगियों को दवा देने का प्रबन्ध कर लिया गया है।

सुबह का वक्त है। डाक्टरनी अभी-अभी चाय पीकर कमरे में बैठने जा रही हैं। इतने में लाल पगड़ी पहने हुए एक सिपाही बरामदे में उपस्थित होकर लम्बा सलाम देता है।

डाक्टरनी—क्या है ?

'हुज़ूर, दरोग़ा जी ने सलाम बोला है।'

'अच्छा।'

'हुज़ूर, एक मासूम बच्चा है।'—कहकर सिपाही पीछे देखता है। साथ का चौकीदार गलित और छिन्न वस्त्रों में लिपटे हुए एक नवजात शिशु को हथेलियों पर लेकर आगे बढ़ता है।

डाक्टरनी—इसे क्या हो गया है?

सिपाही—हुज़ूर, यह लावारिस बच्चा है। बस्ती के बाहर खाई में पड़ा मिला है।

डाक्टरनी कमरे से बाहर निकल कर बरामदे में आ जाती हैं।

सिपाही—दरोग़ाजी ने कहलाया है कि जब तक इसके माँ-बाप का पता नहीं चलता, हुज़ूर इसकी परवरिश करें।

'बहुत अच्छा।'

कपड़ा हटा कर डाक्टरनी नवजात शिशु की परीक्षा करने लगती हैं। बच्चा बिलकुल निस्पन्द है। नेत्र बन्द हैं, श्वास चल रही है अथवा नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। अभी मांस का पिण्डमात्र है। कोमल, सुकुमार, पारदर्शक त्वचा के भीतर सर्वत्र रक्त की आभा दौड़ रही है। डाक्टरनी ललाट का स्पर्श करतीं और फिर नब्ज़ देखकर सहसा बोल उठती हैं—'भीतर चलो, भीतर! यहाँ ठण्डी हवा आ रही है।'

भीतर जाकर डाक्टरनी जल्दी से मेज़ पर कपड़ा बिछातीं और बच्चे को लेकर लिटा देती हैं। ऊपर से फ़लालैन की एक चादर उढ़ा देती हैं, फिर पुकारती हैं—'मार्था, ओ मार्था!'

मार्था नर्स का नाम है। वह ऊपर बैठी प्रभु मसीह का, प्रार्थना-सम्बन्धी, एक भजन गुनगुना रही है। इतने ही में आवाज़ सुनकर नीचे दौड़ आती है।

डाक्टरनी—जल्दी थोड़ा दूध तैयार करो, पट्टी लाओ। थर्मामीटर कहाँ है? तुम हरेक चीज़ न जाने कहाँ रख देती हो।

मार्था थर्मामीटर देती है। शिशु का तापक्रम लिया जाता है। १०४ डिगरी ज्वर है।

'मार्था, ठण्डे पानी की पट्टी लाओ।'

मार्था दूध तैयार कर रही है। कहती है—'अभी लाती हूँ।'

'दूध की इतनी आवश्यकता नहीं, पहले बच्चे के सिर पर पट्टी रक्खो!'

मार्था दूध की बोतल जहाँ-की-तहाँ रख देती है और शिशु के माथे पर शीतल जल की पट्टी बाँधने लगती है।

सिपाही अब भी खड़ा है—डाक्टरनी को इसकी ख़बर नहीं है। किसी काम से बाहर उनकी नज़र जाती है, और तब बरामदे में आकर वे कहती हैं—'तुम जा सकते हो, बच्चे को बुख़ार है। हम कोशिश करेंगे कि वह अच्छा हो जाय।'

सिपाही सलाम करके चला जाता है। डाक्टरनी फिर भीतर आ जाती हैं। मार्था बच्चे के सिर पर पट्टी रख कर दूध तैयार कर रही है। बच्चा फ़लालैन से ढका हुआ निश्चिन्त पड़ा है। उसका चेहरा खुला है। छोटा-सा गोल चेहरा है। संसार में आकर वह अभी यहाँ की किसी

वस्तु से परिचित नहीं हुआ है। प्रकाश से भी नहीं, शब्द से भी नहीं। वह अभी मानो माता के गर्भ में ही सुख और शान्ति की नींद सो रहा है; परन्तु उसे ज्वर चढ़ा है। वह शायद बेहोश भी है। इसीसे डाक्टरनी बार-बार सचिन्त्य दृष्टि से उसे देखती हैं। इस समय वह स्टूल खिसका कर उसके समीप आ बैठी हैं। वह किसी की सन्तान हो; परन्तु वह अनाथ है। निर्बल और असहाय है। डाक्टरनी कई घण्टे से उसका उपचार कर रही हैं; परन्तु उसका ज्वर घटने के बजाय कुछ बढ़ गया है। वे मार्था को बुलाकर कहती हैं—'मार्था, इसे इंजेक्शन देंगे, शायद होश में आ जाय।'

मार्था तुरन्त इंजेक्शन की तैयारी करती है।

बच्चे को इंजेक्शन दिया गया है। डाक्टरनी को उसके पास बैठे दिन-भर हो गया है। कभी नब्ज़ पर हाथ रखती हैं, कभी हृदय की गति देखती हैं, कभी सावधानी से उसके ललाट पर शीतल जल की पट्टी रख देती हैं। बीच में नौकरानी ख़बर देने आती है—'मेम साहब, खाना ठण्डा हो रहा है।'

डाक्टरनी मुँह पर उँगली रखकर मानो संकेत करती हैं—'ओ! ठहरो, शोर-गुल मत करो।' नौकरानी दबे पैरों लौट जाती है।

रात्रि के नौ बजे बच्चे का ज्वर उतरा है। उसकी श्वास स्वाभाविक गति पर आयी और बेहोशी भी दूर हो गयी है। डाक्टरनी ने तब हाथ-मुँह धोया, कपड़े बदले और भोजन करके सोने की तैयारी की; परन्तु उस रात न जाने क्यों उन्हें नींद नहीं आयी।

सवेरा होते ही वे बच्चे के समीप पहुँचीं। बच्चा मीठी नींद सो रहा है। कल की अपेक्षा आज उसका चेहरा भी स्थिर और मधुर है। डाक्टरनी कुर्सी पर बैठ एकटक होकर उसे देखने लगती हैं। बच्चा धीरे से नेत्र खोल देता है। इस बार उसका सम्पूर्ण चेहरा गुलाब की तरह खिल उठा है। वह आँखें बन्द कर फिर सो गया। डाक्टरनी यह सब देखने में तन्मय हैं। सहसा उनके हृदय के किसी कोने से एक गर्म साँस निकल पड़ती है। इसी समय मार्था के आने की आहट होने पर डाक्टरनी स्वप्नोत्थित की भाँति चौंक पड़ती हैं। मार्था के सामने अपने को प्रकृतिस्थ करने के लिए उन्हें यथेष्ट प्रयास करना पड़ता है। उनके चेहरे से यह स्पष्ट हो रहा है कि वह मार्था से कुछ छिपाना चाहती हैं। अपने इस मनोरथ में वह कृतकार्य भी हो गयी हैं।

मार्था—अब बच्चे की कैसी तबीयत है?

'अच्छी है।'

"सो रहा है?'

'हाँ! अभी क्षण-भर के लिए उसने नेत्र खोले थे। आओ मार्था, देखो, कैसा प्यारा बच्चा है!'

निद्रित शिशु को बहुत समीप से देखकर—'स्वर्ग का स्वप्न देख रहा है!'

डाक्टरनी—मैं यह बच्चा मिशन को नहीं दूँगी।

'और?'—मार्था उनके मुखमण्डल पर दृष्टिपात करके प्रश्न करती है।

'स्वयम् रक्खूँगी।'

मार्था समझ जाती है। वह जानती है कि पति की मृत्यु के बाद डाक्टरनी अपना दो वर्ष का एक प्रिय पुत्र खो चुकी हैं। वह कहती है—'अच्छा है। ईश्वर करे तुम्हें इससे शान्ति मिले।'

डाक्टरनी मुँह फेर लेती हैं और जेब से रूमाल निकाल कर मानो माथे का पसीना पोंछने लगती हैं।

(२)

एक महीने से अधिक हो गया है। पुलिस बच्चे को मिशन के संरक्षण में, रखकर निश्चिन्त हो गयी है। उसके अभिभावक का पता नहीं चला; अतः बच्चा डाक्टरनी के ही पास है। जब से वह आया है, डाक्टरनी के नीरस जीवन में मानो सरसता फिर से लौट आयी है।

इस समय वह एक मरीज़ को देखकर लौट रही थीं। अकस्मात् सड़क के किनारे बैठी हुई एक भिखारिन पर उनकी दृष्टि पड़ गयी। इस भिखारिन को जैसे उन्होंने दो-एक बार और देखा है। वह खड़ी हो गयीं। भिखारिन ने समझा—कुछ मिलेगा; अतः उसने हाथ बढ़ाया और डाक्टरनी को इस दया के लिए पहले ही से कृतज्ञता-उच्छ्वसित हृदय-से आशीर्वाद दे डाला।

डाक्टरनी—मेरे पास पैसा नहीं है।

भिखारिन अपने दोनों शुष्क, मलिन नेत्र ऊपर उठाकर उन्हें देखने लगी—'यह क्या थोड़ा है, भगवान् तुम्हें चिरायु करें।'

डाक्टरनी—किन्तु तुम्हें भोजन करा सकती हूँ। चलो मेरे साथ स्पताल। यहाँ से बहुत दूर नहीं है।

भिखारिन अपनी मैली-फटी चादर और झोली सँभालकर उठी और डाक्टरनी के साथ हो ली।

मार्था उस समय बरामदे में बैठी लोरी गा-गाकर बच्चे को सुलाने का प्रयत्न कर रही थी। डाक्टरनी की आज्ञा पाकर वह उठी और भिखारिनी के लिए भोजन लेने चली गयी। डाक्टरनी कपड़े बदलने के उद्देश्य से कमरे में प्रवेश करती है।

भिखारिन बरामदे में खड़ी रह जाती है और तुरन्त ही उस शिशु पर उसकी दृष्टि पड़ती है। वह विस्मित होकर दूध-जैसे स्वच्छ और निर्मल वस्त्रों से आवृत उस प्रिय-दर्शन शिशु के मुख की ओर अपने दोनों नेत्र स्थिर करके देखने लगती है। वह उसके और समीप आकर खड़ी हो जाती है। उस शिशु के शरीर की गन्ध मानो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। उसकी देह बार-बार कण्टकित हो जाती है और एक बार तो उसके मन में यह हो आता है कि उस शिशु को गोद में लेकर अपनी छाती से चिपटा ले।

उसी समय मार्था चीनी की दो रकाबियों में भिखारिन के लिए दाल, भात और रोटियाँ लेकर आती है और उसे शिशु के निकट खड़ा देख बिगड़कर कहती है—'चल हट वहाँ से, उस कोने में। ले, तेरे पास कुछ बर्तन भी है?'

भिखारिन अपराधी की भाँति सकपका कर कहती है—'नहीं माईजी!'

'तुम रहती कहाँ हो ?'

'जहाँ जगह मिल जाती है।'

'अच्छा तुम नौकरी करोगी ?'—उस भिखारिन से डाक्टरनी ऐसा असंगत प्रश्न क्यों कर बैठती हैं, यह बाद में स्वयम् उनकी समझ में नहीं आता।

'क्यों नहीं ; मगर मुझे रक्खेगा कौन माजी ?'

'मैं रक्खूँगी। मुझे एक नौकरानी की ज़रूरत है।'

'छोटे बाबू को खिलाने के लिए ?'

'हाँ।'

भिखारिन का समस्त मुख-मंडल खिल उठता है। वह नौकरी के लिए राज़ी हो जाती है। मार्था सुनती और मुँह सिकोड़ कर कहती हैं—'आप भी खूब हैं। नौकरानियों की क्या कमी है, जो आज इस राह चलती भिखमँगनी को अपने पास रखने जा रही हैं !'

डाक्टरनी कहती हैं—'देखो मार्था, हम लोगों को एक नौकरानी की आवश्यकता है और इस ग़रीब औरत को जीवन-निर्वाह के लिए एक सहारे की बड़ी ज़रूरत है। तब हम इसी को क्यों न अपने यहाँ रखलें ? बेचारी का जीवन सुधर जायगा। आओ, इसे पहनने के लिए धोती दो और इससे कहो, सवेरे खूब साफ़-सुथरी होकर यहाँ रहे और काम करे।'

(३)

भिखारिन को डाक्टरनी के यहाँ आज दूसरा दिन है। इस बीच में उसकी सूरत ही बदल गयी है। उसे देखकर कोई यह नहीं कह

सकता कि यह वही भिखारिन है, जो दो दिन पहले गली-गली भीख माँगती फिरती थी। उसका शुष्क और मलिन चेहरा प्रसन्न और स्वच्छ है। मैले और फटे वस्त्रों की जगह वह अब एक साफ़ धुली हुई धोती पहने है। पूछने पर मालूम हुआ, उसका नाम चन्दो है। डाक्टरनी को यह नाम बहुत पसन्द आया है; अतः उन्होंने उसे बदलने की ज़रूरत नहीं समझी। चन्दो ने सवेरे उठकर सारे मकान में झाड़ू दी, बर्तन धोये, कुँए से पानी लायी और अपने इन दैनिक कर्मों से निवृत्त होकर वह बच्चे के पास आकर बैठ गयी है। इसी समय मार्था बच्चे के लिए बोतल में दूध ले आती है। बच्चे को गोद में लेकर दूध पिलाने जा ही रही थी कि डाक्टरनी पुकारती हैं—'मार्था।'

मार्था उत्तर देती है—'अभी आयी; बेबी को दूध पिला दूँ।'

'मुझे थोड़ी साफ़ काटन और पर-आक्साइड की बोतल दे जाओ, फिर जा सकती हो।'

अन्य कोई उपाय न देखकर मार्था शिशु को चन्दो की गोद में दे देती और उसके एक हाथ में दूध की बोतल थमा देती है। शीघ्रता से जाती हुई कहती जाती है—'देखो बोतल सँभालकर पकड़ना; मैं अभी आयी।'

परन्तु मार्था को देर हो जाती है। इधर शिशु दूध की बोतल देख लेता और वह पहले से मुँह खोलकर 'आँ' 'आँ' कर उठता है। चन्दो बेचारी बड़े असमंजस में पड़ जाती है। वह बोतल को अलग रख देना चाहती है; परन्तु शिशु को अब एक क्षण का भी विलम्ब असह्य हो गया है। वह एक बार आतुर, विक्षुब्धित दृष्टि से चन्दो की ओर

देखकर सहसा ज़ोर से चीत्कार कर उठता है। विवश होकर चन्दो शिशु के मुँह में दूध दे देती है। शिशु चुप हो जाता और घबराकर बड़े-बड़े घूँट लेकर दुग्ध पान करने लगता है।

उसी समय कमरे में मार्था आ जाती है। उसने शिशु की क्रन्दन ध्वनि सुन ली है। चन्दो की गोद में पड़े हुए शिशु को बोतल से जल्दी-जल्दी दूध पीते देखकर सहसा वह इस प्रकार स्तम्भित होकर खड़ी रह जाती है, मानो कोई भयानक काण्ड हो गया हो। और चीत्कार करके कहती है—'तुझसे किसने कहा था दूध पिलाने को······चल हट !'

अपने पीछे डाक्टरनी को देखकर मार्था का स्वर धीमा पड़ जाता है।

चन्दो कहती है—'बुआ, तुम्हारे जाते ही बेबी एकदम रो उठा था। इसीसे मैंने बोतल उसके मुँह में दे दी।' और वह त्रस्त दृष्टि से डाक्टरनी की ओर देखने लगती है।

डाक्टरनी कहती हैं—'कुछ हर्ज नहीं ; परन्तु देखो, बोतल को बहुत ऊँचा मत करो। ऐसा करने से बेबी का मुँह एक दम से भर जाता है और उसे पीने में तकलीफ़ होती है।

डाक्टरनी चाहती हैं कि चन्दो शिशु की देख-रेख-सम्बन्धी इन सब कार्य्यों में दक्ष हो जाय। वह थोड़ी देर और खड़ी रहतीं और फिर एक ओर को चली जाती हैं।

चन्दो बच्चे के सिर को हथेली का सहारा देकर दूसरे हाथ से उसे दूध पिला रही है। मार्था उसके कार्य का निरीक्षण कर रही है। उसे सन्तोष है कि चन्दो ठीक ढङ्ग से दूध पिलाती है। उसकी दृष्टि शिशु

की ओर है। चन्दो के मन की अवस्था का उसे कोई ज्ञान नहीं है। यदि वह उसकी ओर देखती तो पता चलता कि वह दूध पिलाने में इतनी तन्मय हो गयी है, कि उसे अपने तन-बदन की भी सुध नहीं रही है। शिशु के रूप में, उसके नेत्रों में, उसके स्वर में, न जाने कौन-सा जादू है, जिसके वश में होकर वह अपना आपा खो बैठी है। उसका हाथ नहीं चलता, श्वास नहीं चलती, मस्तक नहीं हिलता। वह पत्थर की मूर्त्ति बन गयी है। शिशु के स्पर्श-मात्र से उसके शुष्क, रुक्ष, दीन जीवन में मानो मा के प्राण जाग उठे हैं। डाक्टरनी उसे देखती हैं, तो उन्हें मरियम की मातृ-मूर्त्ति की सुध आये बिना नहीं रहती।

मार्था लक्ष्य करती है, बोतल में दूध थोड़ा रह गया है और उसे किंचित सीधा करने की आवश्यकता है; परन्तु चन्दो का हाथ मानो जड़ हो गया है, हिलता ही नहीं। वह बिगड़कर कहती हैं—'चन्दो, ऊँघ रही है क्या?'

'नहीं बुआजी!'—कहकर वह बोतल सँभालती है। शिशु दूध पी चुका था; अतएव बोतल की रबड़ को मुँह में लेकर रह जाता और अपने सुनील, उज्ज्वल नेत्रों से चन्दो के मुख की ओर देखने लगता है।

चन्दो पूछती है—यह मालकिन का लड़का है बुआजी?—चन्दो को मालूम हो गया है, कि डाक्टरनी विधवा हैं।

'हाँ, उन्हीं का लड़का समझो।'

'तो क्या उन्होंने गोद लिया है?'

'हाँ।'

'कहाँ से लिया है?'

'अनाथ है।'

'अनाथ!'

'हाँ।'

'राम-राम! इसकी माँ'—चन्दो कुछ रुककर कहती है—'यहाँ कैसे आया?'

'पुलिस ने दिया है। उन लोगों को बस्ती के बाहर खाई में पड़ा मिला था।'

'खाई में!'

'हाँ, देख शीशी सँभाल कर रख।'

चन्दो पूछती जाती है—'कितने दिन हो गये?'

'सवा महीना।'

सहसा चन्दो का दाहिना हाथ त्रस्तभाव से फ़र्श पर जा गिरता है। मार्था चिल्लाती है—'अरे, अरे, क्या शीशी तोड़ेगी?' किन्तु इसके पहले ही चन्दो की संज्ञाहीन देह शिथिल होकर ज़मीन पर गिर पड़ती है। मार्था फुर्ती से आगे बढ़कर बच्चे को नीचे गिरने से बचा लेती है। उसका चीत्कार सुन कर पास के कमरे से डाक्टरनी आ जाती और देखती हैं—चन्दो बेहोश पड़ी है और मार्था बच्चे को गोद में लिये किं-कर्त्तव्य विमूढ़-सी होकर मानो उन्हीं की प्रतीक्षा में खड़ी है। बच्चे को एक ओर लिटा कर दोनों जनीं, मूर्च्छित चन्दो को सचेत करने के प्रयत्न में लग जाती हैं; दवा सुँघाती और चेहरे पर शीतल जल के छींटे मारती हैं। फिर उसके हृदय की गति की परीक्षा करने के उद्देश्य से डाक्टरनी

जब उसकी छाती पर से अंचल का छोर हटाती हैं, तो मार्था और डाक्टरनी दोनों ही थोड़ी देर के लिए विस्मित और चकित होकर एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगती हैं। चन्दो का अंचल दूध से भीगा है और उसके दोनों स्तनों की कोरों पर अब भी मधुर वात्सल्य-रस की दो श्वेत और उज्ज्वल बूँदें छलछला रही हैं।

डाक्टरनी कहती हैं—'इसने अपना बच्चा खो दिया जान पड़ता है। तभी इसकी यह दशा हुई है।'

दोनों ने चन्दो की मूर्छित देह को उठाकर चारपाई पर रख दिया है। एक घन्टे के बाद वह धीरे-धीरे अपने नेत्र खोलती है। डाक्टरनी ने मार्था को मना कर दिया है, उससे कुछ बात करने को; परन्तु जब चन्दो का मन स्वस्थ होता और वह पूर्ण प्रकृतिस्थ हो जाती है, तो मार्था के पूछने पर वह उत्तर देती है—'मुझे चक्कर आते हैं, और मैं अकसर इस प्रकार बेहोश हो जाती हूँ।'

मार्था फिर इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं करती।

सन्ध्या हो गयी है। थोड़ी देर बाद उस घर में भी रात्रि की गहरी निस्तब्धता छा जाती है। सब सो गये हैं। डाक्टरनी भी, उनकी बगल में उनका प्यारा बच्चा भी, मार्था भी, और शायद चन्दो भी।

सवेरा हो गया है। डाक्टरनी सबसे पहले जागती हैं, और उनके बगल में जो छोटी सी मसहरीदार चारपाई बिछी है और उस चारपाई पर जो फूल-सा कोमल एक शिशु सो रहा है, उसकी ओर ही उनकी आँखों ने अपने पलक खोल दिये हैं। वे बुलाती हैं—'मार्था, चार्ली तुम्हारे पास है?'

मार्था भी सोकर अभी उठती जा रही है। कहती है—'नहीं तो।'

डाक्टरनी उठकर बैठ जाती हैं, इधर-उधर नज़र दौड़ाकर पूछती हैं—'चन्दो कहाँ है?'

मार्था भी चन्दो की सूनी चारपाई देखती है। आँखों को इधर-उधर ले जाती और कहती है—'पता नहीं।'

'देखो, चार्ली को लेकर बाहर गयी है, जान पड़ता है।'

मार्था एक कमरे में जाती है, फिर दूसरे कमरे में, फिर बाहर, फिर बरामदे में। किवाड़े सब जगह खुले पड़े हैं और सब जगह एक प्रकार का अस्वाभाविक, अप्रिय सन्नाटा छाया है, मानो रात के समय इस पींजड़े का कोई तोता उड़ गया हो।

मार्था वापिस आती और कहती है—'चन्दो नहीं है।'

डाक्टरनी चुप रह जाती हैं।

'चार्ली भी नहीं है।'

डाक्टरनी फिर भी चुप रहती हैं।

'ज़रूर वही औरत ले गयी है।'

डाक्टरनी फिर भी नहीं बोलतीं।

'अभी वह कहीं गयी नहीं, यहीं होगी। जाकर पुलिस में रिपोर्ट करती हूँ।'

'नहीं, नहीं'—सहसा डाक्टरनी स्खलित स्वर में उत्तर देती हैं—'क्या जाने वह उसी का हो' और वह त्रस्त, शिथिल भाव से जहाँ-की-तहाँ बैठी रह जाती हैं।

बोध

-:o:-

जाड़े के दिन थे। कमलाकान्त का पाठशाला से लौटने का समय हो गया था। सुभद्रा आँगन में बैठी उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। इतने में जूतों की खट-खट सुनायी पड़ी। 'आगये' कह वह उठकर खड़ी होगयी। ओठों पर स्वागत की हँसी फूट पड़ी।

कमलाकान्त भीतर आया। सुभद्रा ने उसे देखते ही कहा—'और चादर कहाँ छोड़ आये ?'

'छोड़ नहीं आया।'

'फिर ?'

'दे आया हूँ।'

'किसे ?'

'एक भिखमङ्गे को।'

सुभद्रा की भौंहें तन गयीं—रोष प्रकट करके वह बोली, 'चलो, तुम तो हमेशा ऐसा ही करते हो। उस दिन न जाने किस लड़के के लिए घर से वनियान ले गये थे, आज भिखमङ्गे को ऊनी चादर दे आये।'

एकाध दिन किसी को अपने कमीज़ और धोती उतार कर और दे आओ तो मुझे बड़ी खुशी हो।'

कमलाकान्त बोला—'मेरे पास और कुछ नहीं था। पैसे भी नहीं थे। इसीसे चादर दे आया।'

'चलो अच्छा किया।' कह कर सुभद्रा कुड़मुड़ाती हुई भीतर चली गयी।

वह कपड़े उतारने लगा। तब तक सुभद्रा उसके लिए थोड़ा सा जल-पान ले आयी।

(२)

कमलाकान्त ने प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया था। सो भी गणित में। यदि चाहता तो सहज ही में कहीं प्रोफ़ेसर हो जाता। किन्तु इस पद के लिए प्रयत्न करना दूर रहा, उसने कभी इच्छा भी प्रकट नहीं की। झाँसी की अछूत-पाठशाला में एक अँग्रेजी शिक्षक की आवश्यकता थी। उसने वहीं नौकरी कर ली। जगह पैंतालीस की थी, किन्तु पाठशाला की कमिटी ने उसकी योग्यता का ख़्याल करके उसे सत्तर रुपया मासिक देना स्वीकार कर लिया। मित्रों ने कहा—'तुम भी अजब गधे हो। इससे तो कहीं भाड़ झोंकते तो अच्छा था। आजकल के ज़माने में सत्तर से क्या होगा?' कमलाकान्त कहता, 'भाई, हममें से बहुतों को तो सात भी नहीं मिलते।'

उसकी इसी प्रकार की बातों से लोग उसे सनकी कहा करते थे। वह सीधे मिज़ाज का आदमी था। उसकी शक्ल देखकर कोई यह नहीं

कह सकता था कि वह एम० ए० पास है। खादी का मोटा कुरता पहनता था, जिसका एक छोर खड़िया मिट्टी की सफ़ेदी से रंजित रहता, क्योंकि गणित पढ़ाते समय वह कभी-कभी अपने कुरते से ही झाड़न का काम ले लेता था। नंगे सिर रहता था। बाल बड़े-बड़े थे। किन्तु उनमें तेल महीनों नहीं पड़ता था। ग़नीमत यह थी कि वे स्वभाव से कुछ चिकने थे! कोट पहनना उसने बहुत दिनों से छोड़ दिया था। सर्दी से बचने के लिए एक चादर थी, सो उस दिन रास्ते में न जाने कहाँ का एक अन्धा भिखारी मिल गया। हाथ पसार कर कहने लगा, 'बाबू जी, एक कपड़ा मिल जाय।' कमलाकान्त से उसकी दीन दशा न देखी गयी। उसे चादर उतार कर दे दी। तब से वह भी उसके पास न रही। रास्ता चलते आठ रुपये की चादर एक भिखमङ्गे को दे डाली। अपने पति के इस सनकीपन पर सुभद्रा मन ही मन नाराज़ हो लेने के सिवा और कर ही क्या सकती थी? कभी-कभी इस तरह के प्रसङ्ग आने पर वह उससे तर्क भी कर बैठती। किन्तु एम० ए० पास पति से बहस करने में जीत की अपेक्षा हार ही की अधिक सम्भावना है, यह सोचकर चुप हो जाती थी।

(२)

उस दिन बड़ी ठंड थी। सूर्य भगवान भी सर्दी के मारे सवेरे से बादलों का लिहाफ़ ओढ़े बैठे थे। कमलाकान्त भोजन करके पाठशाला के लिए तैयार हुआ। सुभद्रा चौके के भीतर से चिल्लायी—

'कुछ अपनी भी फ़िक्र है, या सब कुछ ग़रीबों को ही दे डालने का निश्चय किया है। ऐसी तो सर्दी पड़ रही है और आप सिर्फ़ एक कुरता

पहनकर पाठशाला जा रहे हैं। पलंग पर मेरा शाल पड़ा है, मेहरबानी करके उसे गले में डाल लीजिये।' फिर उसने दासी को पुकार कर कहा... 'अरी कहाँ चली गयी। इन्हें वह शाल नहीं मिलेगा। उठाकर दे दे।'

दासी ने शाल लाकर दे दिया। कमलाकान्त उसे लपेट कर पाठशाला पहुँचा। यद्यपि उसे ठंड लग रही थी, किन्तु अपनी सहन-शीलता को परीक्षा की कड़ी से कड़ी कसौटी पर कसने की उसे कुछ झक-सी थी।

वर्ग में छोटे-छोटे बालकों को कुरतों के भीतर सिमटा बैठा देखकर उसने शाल एक ओर फेंक दिया।

एक लड़के ने कहा 'मास्टर साहब, आज तो बड़ी सर्दी है।'

दूसरा बोला, 'घाम में चलिये साहब।'

इस पर तीसरे ने कहा, 'आज घाम कहाँ निकला है?'

जिसने यह बात कही थी सर्दी से उसके दाँत बज रहे थे। कमलाकान्त ने उसे अपना शाल देकर कहा, 'घाम नहीं निकला है, यहीं बैठो। लो यह कपड़ा ओढ़ लो।'

लड़के ने सङ्कोच किया। कमलाकान्त ने शाल उसके पैरों पर डालकर कहा, 'सर्दी से मरेगा क्या?'

शाल लम्बा था। आस-पास जो लड़के बैठे थे उन्होंने भी उसे पैरों पर डाल लिया। कमलाकान्त पढ़ाने लगा?

थोड़ी देर बाद जिस लड़के ने घाम में निकलने की बात कही थी, वह बोला—'मास्टर साहब, सर्दी लग रही है।'

कमलाकान्त कुर्सी से उठ कर उसके पास गया और उसके मस्तक पर हाथ फेर कर पूछने लगा—'क्यों ?'

लड़का काँपते-काँपते बोला—

'जाने क्यों !'

कमलाकान्त ने उसके बदन पर हाथ रक्खा। 'ओफ़ !' कहकर उसने हाथ हटा लिया। लड़के का शरीर तवे की भाँति गरम था। उसे ज्वर चढ़ा था। कमलाकान्त ने पाठशाला के एक नौकर से ताँगा मँगवाया और लड़के को सावधानी से शाल में लपेट कर उसके घर भिजवा दिया।

सन्ध्या को वह घर लौटा। उसके कन्धे पर शाल न देखकर सुभद्रा की क्षण भर पहले की मुस्कराहट रोश में बदल गयी। उसने कहा, 'शाल कहाँ डाल आये ?'

कमलाकान्त बोला—'डाला कहीं नहीं। वर्ग में एक लड़के को ज्वर चढ़ आया था। वही ओढ़ कर अपने घर गया है।'

सुभद्रा ने नाराज़ होकर कहा, 'तुम्हें क्या हो गया है। साठ रुपये का पश्मीने का शाल, न जाने किस भङ्गी के लड़के को दे आये।'

'दे नहीं आया। कल आ जायगा।' कमलाकान्त ने कुंठित होकर कहा—

'हाँ ! हाँ खूब आ जायगा !' कहकर सुभद्रा चुप होगयी।

कमलाकान्त ने कहा—'ऐसी ठंडी हवा चल रही है, तिस पर भी उसे ज्वर था। शाल दे न देता तो और क्या करता ?'

'चलिये, रहने दीजिये। कोरी-चमारों के लड़कों को ऐसी ठंड नहीं लगती।' कहकर सुभद्रा सामने से चली गयी।

उसे शाल का बड़ा पछतावा होने लगा। उसके पिता उसे कश्मीर से लाये थे। एक तो पिता की दी हुई; दूसरे कीमती चीज़। सोचने लगी, 'इन्हें न देती, तो अच्छा था।'

किन्तु शाल के बिना उसे थोड़ा-सा शारीरिक कष्ट भी हुआ। नौकरानी बीमार होगयी थी। इसलिए दूसरे दिन सवेरे घर का सारा काम-काज उसे ही करना पड़ा। कम्बल था। उसे ओढ़ना उसने पसन्द नहीं किया। सर्दी से उसके अङ्ग ठिठुर गये। धूप निकलने पर कहीं उससे भली प्रकार काम किया गया। कमलाकान्त जब पाठशाला जाने लगा, तब उसने कह दिया, 'मेहरबानी करके मेरे लिए लौटते वक्त एक रैपर लेते आइये।'

पाठशाला में पहुँचकर कमलाकान्त ने लड़के के सम्बन्ध में ... पता चला, उसका ज्वर नहीं उतरा, वह पाठशाला नहीं आये तो उसे शाल की ज़रूरत पड़ेगी' सोचकर वह पढ़ाने बैठ गया। का मोटा

सन्ध्या को लौटते समय वह सुभद्रा के लिए बाज़ार से । सुभद्रा चादर ख़रीद लाया। सुभद्रा ने कुछ नहीं कहा। चादर को उठा कर चारपाई पर रख दिया। कहा—

(४)

सात बज गये थे। किन्तु कुहरे के कारण घरों में अब भी कुछ अँधेरा सा था। सर्दी ऐसी थी कि हाथ रज़ाई से बाहर नहीं निकाले जाते थे।

दासी अब भी स्वस्थ नहीं हुई थी। अतः आग बनाने के लिए सुभद्रा को स्वयम् ही उठना पड़ा। वह अँगीठी के पास बैठी बड़ी देर तक अपने हाथ सेंकती रही। उसकी सर्दी फिर भी न छूटी। अन्त में वह उठी। जाकर घर के किवाड़ खोले। कुछ देर तक सुनसान सड़क की ओर देखती रही। सारा मुहल्ला कुहरे की चादर ओढ़े पड़ा था। फिर उसने इधर-उधर देखने के लिए दरवाज़े के बाहर सिर निकाला। बगल में हलवाई की दूकान थी। वह अभी उठता जा रहा था। चिलम पीकर खाँस रहा था। फिर सुभद्रा ने दाहिनी ओर देखा। सहसा चबूतरे पर दीवार के पास एक गठरी-सी पड़ी देखकर वह चौंक पड़ी।

सुभद्रा ने पूछा, 'कौन है?'

गठरी कुड़मुड़ाई। तब उसे मालूम हुआ कि वह कोई आदमी है। बदन पर फटी कुर्ता थी और कमर में लङ्गोटी। सर्दी की वजह से अपने ---कैमेंल समेटकर गठरी बना पड़ा था।

-चढ़ आया ा ने पूछा, 'कौन है? बोलता क्यों नहीं?'

सुभद्रा के भीतर से आवाज़ आयी, 'मैं हूँ, माई जी!' सुभद्रा को -का पश्मीने पड़ा मानो वह आवाज़ समाधि के भीतर से आ रही हो।

'दे . कौन?'

-कहा—ंगता हूँ, माईजी। ओह, बड़ी सर्दी है! हाथ-पैर टूट रहे हैं।'

'सुभद्रा ने पूछा, 'यहाँ क्यों लेटा है?'

भिखमङ्गे ने कहा, 'रात में उस हलवाई की भट्ठी के पास पड़ा था, माईजी, किन्तु उसने मारकर भगा दिया।'

भिखमङ्गे की बात सुनकर सुभद्रा का मन न जाने कैसा होगया। वह क्षण भर तक वैसी ही खड़ी उसकी ओर देखती रही। कल शाल के अभाव से उसे कैसी सर्दी मालूम हो रही थी, यह सोच कर मानो वह सर्दी से और भी ठिठुर उठी। आज भी वह ऊनी बनियान पहने थी, चादर ओढ़े थी, फिर भी उसके चेहरे का खून मानो जमा जा रहा था।

भिखमङ्गे ने उसकी ओर देखकर कातर स्वर में कहा, 'माईजी, कुछ कपड़ा हो तो देदो। कल से बुख़ार चढ़ा है।'

सुभद्रा ने अपनी आँखें मूँदी और खोलीं। या तो उससे भिखमङ्गे का कष्ट नहीं देखा गया, या उसकी पलकें पानी से भीग आयीं। अपनी नयी चादर भिखमङ्गे पर डालकर उसने कहा, 'लो इसे ओढ़ लो। तब तक धूप निकल आयगी।'

'जय हो माईजी' कहकर भिखमङ्गे ने चादर के भीतर अपने पैर फैलाये। सुभद्रा एक साँस लेकर घर के अन्दर चली गयी।

कमलाकान्त उस समय शय्या से उठकर अपने ओढ़ने का मोटा कम्बल कन्धे पर डाल बाहर घूमने जाने की तैयारी कर रहा था। सुभद्रा को देखकर कहने लगा, 'कहाँ गयी थीं?'

'कहीं नहीं।' फिर उसने पति के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—'देखो, उस लड़के से वह शाल मत लेना।'

'क्यों?'

'तुम कहते थे वह बीमार है।'

कमलाकान्त ने कहा—'हाँ, बीमार ही है।' फिर बोला 'और तुम इस तरह सर्दी क्यों खा रही हो ? चादर कहाँ गयी ?'

'मुझे सर्दी नहीं लग रही है।' कहकर सुभद्रा ने बताया कि वह अपनी चादर बाहर चबूतरे पर पड़े हुए एक आदमी को उढ़ा आयी है।

'तो उसे दे आयीं !'

सुभद्रा अपने विशाल लोचनों से उसको देखती हुई बोली, 'क्यों ?'

प्रत्युत्तर में कमलाकान्त ने उसका मस्तक चूम लिया।

उस दिन रविवार था। दोपहर को सात वर्ष के एक छोटे बालक ने उसके मकान पर आवाज़ लगायी—'मास्टर साहब !' कमलाकान्त बाहर निकल आया। लड़का उसका शाल लेकर आया था। कहने लगा, 'मास्टर साहब, अपना शाल लीजिये, बापू बड़े नाराज़ होते थे कि इसे क्यों ले आया।'

कमलाकान्त ने लड़के की ओर देखकर पूछा, 'तुम्हारा ज्वर उतर गया ?'

'हाँ !'

कमलाकन्त ने कहा 'देखो, बापू से कह देना, यह शाल मास्टरनी ने मुझे दे दिया है। समझे।'

———

एक अधूरी ट्रेजेडी

गाँव में रात्रि होने के साथ ही शान्ति आ विराजती है। अभी दस बजे हैं, किन्तु कहीं कुछ आवाज़ नहीं हो रही। घर के सब लोग सो गये हैं, और गली में भी लोगों का चलना बन्द हो गया है। अभी थोड़ी देर से दो-तीन कुत्ते अवश्य न जाने किसलिए भूँक उठे हैं।

सन्ध्या से ही कहानी लिखने बैठ गया हूँ। एक दुःखान्त कहानी लिख रहा हूँ। अभी ब्यालू नहीं की। थाल ज्यों-का-त्यों रक्खा है, और इसी वजह से पत्नी गुस्सा होकर सो गयी है (सोयी या नहीं, यह भगवान् जाने)। मैं जब कहानी लिख रहा हूँ, तब ब्यालू का थाल लेकर आ जाने का यह कौन-सा वक्त था। बहुत दिनों बाद मेरे दिमाग़ की कमज़ोर बंसी में आज एक अच्छा कथानक फँसा है। उसे लेकर मैं अपनी कहानी लिखूँगा। ब्यालू उसके बाद।

खिड़की के नज़दीक बैठा हूँ। कमरे में लैम्प का तीव्र प्रकाश फैला है, जिसके कारण बाहर का अन्धकार मेरे लिए और भी सघन हो गया है। गली में कोई नहीं है। केवल एक लालटैन चुपचाप, उदास भाव से आस-पास के घरों को अपना क्षीण प्रकाश दान कर रही है। यह सामने

का दालान भी अभी ख़ाली है, जहाँ इस वक्त तक गाँव के दो-चार ढोर अपना कब्ज़ा जमा लेते हैं। एक बार गली में नीचे देखने के उपरान्त अन्तरिक्ष में कुछ दिखायी ही नहीं देता। फिर कच्चे मकानों की छतें, मन्दिर का ताम्र-कलश और वह बबूल का पेड़, जिस पर लगभग एक सप्ताह से कौवों ने घोंसला रखना शुरू कर दिया है, एक अजीब रहस्यमय तरीक़े से अन्धकार में निकलते हुए दिखायी देते हैं। मालूम होता है, वे भौतिक जगत् की चीज़ें नहीं रहीं। वहीं ऊपर दो-तीन तारे भी झिल-मिलाते दिखायी दे जाते हैं। वे अन्धकार को भेदकर खिड़की के मार्ग से मेरी ओर ही देख रहे हैं। वे मुझसे क्या चाहते हैं, पता नहीं। उनकी दृष्टियाँ कुछ विषएण हैं।

यह असाढ़-मास का प्रारम्भ है। कल ज़ोर से पानी पड़ गया है। आज भी सन्ध्या को आकाश कुछ उदास था। कहीं पानी बरस रहा है, क्योंकि वर्षा के जल से शीतल और आर्द्र हुई पछाहीं हवा धीरे-धीरे खिड़की के मार्ग से मेरे पास तक आ रही है। मैं लिखने से निवृत्त होकर विचार-मग्न हो गया हूँ। कहानी आधी से अधिक हो गयी है, किन्तु समझ में नहीं आता कि उस पर पटाक्षेप किस प्रकार करूँ। चाहता हूँ कि ट्रेजेडी ख़ूब करुण और प्रभावोत्पादक हो। कहानी के मुख्य पात्र को इस समय मैंने फाँसी पर लटका दिया है। किन्तु वास्तव में उसे फाँसी नहीं हो रही है। वह एक ऐसी लड़की को प्रेम करता है, राजा स्वयम् जिसके प्रणयाकांक्षी हैं। राजा उस लड़की के सामने घुटने टेककर अत्यन्त दीनतापूर्वक प्रेम-भिक्षा माँगते हैं, किन्तु

लड़की इनकार कर देती है। वह मरना पसन्द करती है, इसकी अपेक्षा कि किसी दूसरे को अपना प्रेम दे। राजा तब गुस्से से पागल हो जाते हैं। वह उस युवक से ईर्ष्या करते हैं, किन्तु उस लड़की पर उनका सच्चा प्रेम भी है। केवल उसे भयभीत करने अथवा युवक के प्रति उसके प्रेम की परीक्षा के लिए वह फाँसी का स्वाँग रचते हैं। परिस्थिति बहुत नाजुक है। मेरी ज़रा-सी ग़लती से ट्रेजेडी का प्रभाव नष्ट हो सकता है। किन्तु आप जानते हैं, मैं ऐसा होने नहीं दूँगा। युवक के गले में फाँसी का फन्दा पड़ चुका है। ठीक उसी वक्त वह लड़की वहाँ पहुँचती है। वह दृश्य उसके लिए बहुत भयानक है। अपने हृदय-वल्लभ को फाँसी पर लटका वह देख नहीं सकती। मूर्छित भी नहीं होती, और उफ़ भी नहीं करती। छुरा निकाल कर झट छाती में भोंक लेती और मर जाती है। यहीं मेरी कहानी पर पटाक्षेप होता है। किन्तु मुझे ऐसा भासित होता है कि ट्रेजेडी की आत्मा खूब मूर्तिमती नहीं हुई। अभी कुछ कसर है। कागज़ को एक ओर सरका कर मैं सोचने बैठ गया हूँ। ट्रेजेडी ने जैसे मुझे अभिभूत कर लिया है। मैं दुखी और निस्तब्ध हूँ, और एकटक सामने देख रहा हूँ। अन्धकार में मेरी कहानी के सब पात्र सजीव हो उठे हैं। मैं मानो उस जगह मौजूद हूँ, और उस करुण ट्रेजेडी को अपनी आँखों से अभिनीत होते देख रहा हूँ। कहानी रोमांटिक है, एवम् इतिहास की एक प्राचीन कथा से उसका सम्बन्ध है। अन्यत्र इससे अच्छी ट्रेजेडी मुझे मिली नहीं। इसे जब मैं लिख चुकूँगा, तब—मेरा विश्वास है—पाठक समवेदना से मूर्छित हुए बिना नहीं रहेंगे, और ताज्जुब नहीं कि

दो-तीन दिन तक रात में उन्हें अच्छी नींद न आवे। मुश्किल से एक पेज लिखना है, किन्तु यह दसवीं दफ़े लिखा हुआ पन्ना फाड़कर फेक चुका हूँ। परन्तु मैं कहानी को रात्रि की निस्तब्धता में ही पूरा करके रहूँगा। दिन जैसे ट्रेजेडी लिखने के अनुकूल नहीं है।

देखता हूँ, प्रकृति का रूप कुछ बदल गया है। बबूल का पेड़ मुझे दिखायी नहीं देता, और आकाश के उस धुँधले, नीले अंचल पर भी घनी अँधियारी छा गयी है। बादल गरज उठे। हवा तेज़ हो गयी है। और, यह रिम-झिम करके पानी आ गया! बाहर प्रकृति आनन्द से वर्षा के जल में स्नान कर रही है, और मैं ट्रेजेडी लिखने में निमग्न हूँ!

लैम्प को थोड़ा हटाकर रख दिया है, क्योंकि वर्षा का दुरन्त पवन बार-बार उसे बुझा जाना चाहता है। कहीं से तीन-चार पतंगे आ गये हैं, जो अधीर भाव से लैम्प के आस-पास चक्कर काट रहे हैं। चिमनी उनके मार्ग में बाधक बन रही है, अन्यथा वह अब तक कभी के लौ में जल मरते। मैं समझता हूँ, इन पतङ्गों का जीवन काफ़ी ट्रेजिक है। किन्तु मेरे मन पर इसका कुछ असर नहीं पड़ रहा है। इन पतङ्गों पर दृक्पात करूँ, इतना मुझे अवकाश भी नहीं। इस समय मैं आज से कई सौ वर्ष पूर्व दक्षिण के एक सुदूर प्रान्त में हूँ, और वहाँ पाठकों के लिए एक महान् ट्रेजेडी की अवतारणा कर रहा हूँ। लड़की को ऐसे अप्रत्याशित रूप से आत्महत्या करते देखकर राजा सन्नाटे में आ गये हैं, और युवक फाँसी से नीचे उतरकर अर्द्धविक्षिप्त-सा होकर अपनी प्रणयिनी के वियोग में सिर पीट रहा है। अन्त में छुरे पर उसकी नज़र पड़ती है।

इसके पूर्व कि उसे कोई मना करे, उसी छुरे से आत्महत्या करके वह प्रेमिका के शव पर गिर पड़ता है। महाराज अब क्या करेंगे, यही एक समस्या हल करने को बाकी रह गयी है। अन्त में वह युवक की मृत्यु का भी कारण बने! अतएव दुःखी और निराश होकर यदि वह भी छुरे को अपने हृदय में स्थान दे लें, तो मैं समझता हूँ, ये तीन हत्याएँ पाठक के मन को दुःख, और करुणा से एकदम अभिभूत कर देने को पर्याप्त होंगी। आवश्यकता होने पर और भी रक्तपात कराया जा सकता है। कहानी का सूत्र मेरे हाथ में है, और पात्र बन्धन से मुक्त होकर बाहर नहीं जा सकते...... ।

छप! छप! छप! मेरा ध्यान उचट जाता है, और मन की अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर मैं बाहर देखने लगता हूँ। साथ ही सोच भी रहा हूँ कि ट्रेजेडी को किस प्रकार अधिक उत्कृष्ट बनाया जा सकता है। अन्धकार के सघन स्तर के नीचे लालटैन का मलिन प्रकाश अवसन्न-सा होकर गली में पड़ा है, और वहाँ वर्षा के एकत्र हुए जल में एक अजीब ढङ्ग से झिलमिला रहा है, और छप! छप! छप! मुझे गाँव के किसी निराश्रित पशु का भ्रम होता है। परन्तु अँधेरे में यह तो एक छोटी-सी छाया है, जो गली के पानी को पार करके इस समय दालान में जाकर आश्रय ग्रहण कर रही है। लालटैन का प्रकाश उस पर पड़ रहा है। फिर भी यहाँ से मैं उसे बहुत स्पष्ट नहीं देख पा रहा हूँ।

'कौन है ?'

कोई उत्तर नहीं।

'ऐसे बरसते में कहाँ जा रहे हो?'

फिर भी चुप।

'तुम आये कहाँ से हो?'

फिर भी कोई जवाब नहीं।

छाया मूक और निस्तब्ध खड़ी है, और मेरे विस्मय को उत्तरोत्तर बढ़ा रही है। ऐसे भीगते में कहाँ जायगा यह लड़का? कहाँ से आया है? क्या इसे कहीं बैठने को भी जगह नहीं है, जो पानी बरसते में यहाँ दालान की शरण आया है? यह क्या ऐसा ही निराश्रित है? अथवा किसी गृहस्थ का बालक है? जाकर देखना चाहिए। कह नहीं सकता, क्यों उस पर दया करने को मेरा जी चाहा। अन्यथा ऐसे नाजुक मौक़े पर, जब कि मेरी कहानी पर पटाक्षेप होने को है, मैं कदापि उठ कर नहीं जाता। नीचे आया, किवाड़ खोले, और गली को पार करके उसके सामने पहुँच गया। मैंने पहले ही देख लिया था, छोटा बालक है, बहुत छोटा। मुझे अपने सामने खड़ा देख कर काँप उठा है, अथवा सर्दी की वजह से पहले से ही काँप रहा है, कुछ कहा नहीं जा सकता। सिर से पैर तक पानी से भीग रहा है। बाल लम्बे और रूखे रहे होंगे, परन्तु इस समय भीग कर चिपक गये हैं, और उनसे पानी चू-चू कर उसके कपोलों और कन्धों पर गिर रहा है। फटा कुरता भी भीग गया है, और जहाँ वह खड़ा है, वहाँ पानी की बूँदें टप-टप करके नीचे गिर रही हैं। कुरते के भीतर जैसे उसने कुछ छिपा रक्खा है। 'म्याऊँ...' यह तो बिल्ली का बच्चा है, जिसकी दो चमकीली

आँखें उजाले में अब मुझे दिखायी दे रही हैं। बालक यत्नपूर्वक उसे छिपाता है, मानो मैं उसे छीन लूँगा। फिर अपनी दो नन्हीं और सहमी हुई आँखों से मुझे देख कर एकदम रो पड़ता है। खिड़की के मार्ग से लैम्प का प्रकाश मेरे पास आ रहा है कि मैं उसे देख सकूँ। मैं जैसे इस बालक को पहचानता हूँ। उसे आश्वस्त करके पूछता हूँ—'ऐसे पानी बरसते में तुम कहाँ जा रहे हो?' जवाब में वह और भी ज़ोर से रो उठता है। मैं पुचकार कर फिर पूछता हूँ—'इधर देखो। रोओ नहीं। क्या बात है? किसी ने मारा है?' वह सिर हिला कर इनकार करता है।

'म्याऊँ...' बिल्ली का बच्चा सिकुड़ कर गोल-मटोल हो गया है, और सर्दी से काँप रहा है। बालक उस पर हाथ फेरने लगता है, और कातर दृष्टि से उसे देखता है, मानो उसे कुछ चोट पहुँची है, जिसकी वेदना को वह पूर्ण रूप से अनुभव कर रहा है।

मैं विस्मित हूँ। बात क्या है? यह फिर सिसक रहा है। किस तरह इसे चुप करूँ? कैसे इसके मन का भेद जानूँ? ज़रूर कुछ बात हुई है। घर से वह किसलिए निकल पड़ा? चारों ओर अँधेरा है। गली में कोई नहीं है। कुत्ते भूँक रहे हैं, और पानी बरस रहा है। ऐसे में यह निकला क्यों? इसकी मा को आवाज़ दूँ? उसी ने तो इसे घर से बाहर नहीं निकाल दिया है? नहीं, ऐसा तो नहीं होगा। मा न सही, कोई भी स्त्री, जिसके हृदय है, इतनी क्रूर और निष्ठुर न होगी कि इस बच्चे को रात्रि के समय, पानी बरसते में, घर से बाहर ढकेल दे! ज़रूर वह सो रही होगी, और यह चुपचाप घर से बाहर निकल आया। किन्तु यह भी

मेरे लिए अकल्पित है। यह घर से क्यों निकल पड़ा? क्या रहस्य है इसके यहाँ आने में? कौन-सी असीम वेदना, कौन-सी आकांक्षा, कौन-सी पीड़ा यह छिपाये है अपने छोटे से वक्ष-स्थल में कि यहाँ तक आने में इसे तनिक भी डर नहीं लगा? मैं इसे जानता हूँ। उस इमली के नीचे इसका मकान है। घर में इसके कोई नहीं है। मा है, किन्तु यह बालक मातृहीन है। चार-पाँच साल हुए, मा मर गयी है। बाप के दूसरे विवाह की औरत है। परसाल की बात है, बाप भी परलोक सिधार गया है। हाँ, बालक भी मुझे पहचानता है। अभी परसों मुझसे एक पैसा माँग ले गया था। बेचारा बहुत ग़रीब है। सब तरह से ग़रीब। इतने छोटे बालक की तो मा ही सब से बड़ी सम्पत्ति है, जिसे वह खो बैठा है।

किसी तरह चुप ही नहीं होता, और न मुँह से कुछ कहता है। तब उसके कन्धे पर हाथ रख कर कहा—'अच्छा, सुनो। यह बिल्ली तुम्हें कहाँ मिली? उँह, तुम तो रोते हो। बिल्ली तो भाई बड़ी अच्छी है। अच्छा-अच्छा, रोओ नहीं। देखूँ तुम्हारी बिल्ली। यहाँ अँधेरे में खड़े मत होओ। मेरे साथ भीतर चलो। पानी थमे, तब तुम्हें घर भेजने चलूँगा। वहीं देखूँगा कि बात क्या है।' बालक रोते-रोते सहसा बोल उठा—'मैं अभी घर जाऊँगा।'

'अच्छा चलो, अभी भेज आऊँ। तुम्हारी मा कहाँ है? उसने तुम्हें बाहर आने से मना नहीं किया? डरो नहीं। बताओ, तुम यहाँ आये किसलिए थे?'

बालक ने डरते-डरते संक्षेप में कहा—'पूसी को यहाँ रखने आया था।' मैं आश्चर्य-चकित हो गया।

अवाक् होकर मैंने पूछा—'यहाँ रखने आये थे! क्यों? घर में क्या जगह नहीं थी? और यह कौन-सा वक्त था इसे यहाँ रखने आने का?'

तब धीरे-धीरे उसने सब बताया। अभी थोड़े दिनों की बात है, घर में बिल्ली ने चार बच्चे दिये थे। चारों एक से एक अच्छे, किन्तु यह भूरी बिल्ली तो कुछ पूछो नहीं। लड़के के मन में बस गयी थी। तीन बच्चे तो भाग गये हैं। बाक़ी इस एक को लड़के ने पकड़ कर रख लिया है। किन्तु मा पीटती है, और बिल्ली को घर में नहीं आने देती। वह बिल्ली पाले, तो इसमें मा का हर्ज क्या है? कैसा प्यारा बच्चा है, और बहुत सीधा भी है। न किसी से बोलता है, न किसी को नोचता है। फिर भी वह उसे मारती और खदेड़ कर बाहर कर देती है। लड़का कुछ कह नहीं पाता। मा से वह बहुत डरता है। फिर भी बिल्ली को रोज़ घर में ले जाता है, और अपने इस अपराध के लिए मा के निकट रोज़ मार भी खाता है। इसका तो मानो उसे कुछ रंज नहीं है। छुटपन से पिटने का उसे अभ्यास है। किन्तु आज उस औरत ने पूसी को उठा कर धरती पर धम्म से पटक दिया है! बेचारी का कुछ भी क़सूर नहीं था। भूल से या रसोई की सुगन्ध से आकृष्ट होकर उस जगह पहुँच गयी थी, जहाँ चौके में रोटियों का डिब्बा रक्खा रहता है। बस फिर क्या था! डिब्बे के नज़दीक पहुँची ही थी कि मा झपटी, और उस ग़रीब बिल्ली को उठा कर इस तरह बाहर फेंक दिया, जैसे कोई बेजान चीज़ फेंके,

और फिर भीतर से किवाड़ बन्द करके तुरन्त कुंडी लगा ली। पूसी बाहर गिरी, और वह धमाका मानो इस लड़के की छाती पर हुआ। अच्छी तरह रो भी नहीं सका कि उस औरत ने बिल्ली के ऊपर का बाक़ी ग़ुस्सा इस लड़के पर बुझाया। 'ले, ले, ले—बिल्ली का बच्चा और ले—और लेगा—बोल, और लेगा ?' जब कहलवा लिया कि नहीं लेगा, तब शान्त हुई। पूसी बाहर पड़ी म्याऊँ-म्याऊँ करती रही, और लड़का उसके लिए रोता और सिर पीटता रहा। किन्तु औरत का दिल नहीं पसीजा, और नहीं पसीजा। उसने किवाड़ नहीं खोले। लड़के की कथा कुछ पूछो नहीं। उसके मन पर जो बीती, उसे कौन जानेगा ? रात में नींद नहीं आयी, और मन पूसी में ही रक्खा रहा। कब मा सोवे, और कब वह पूसी के पास जाय, और देखे कि चोट तो नहीं आयी। बाहर मानो पूसी उसे बुला रही थी, और करुण, क्षीण स्वर में विलाप करती हुई उस औरत के क्रूरता-पूर्ण व्यवहार के लिए उसके निकट अभियोग उपस्थित कर रही थी। किन्तु वह विवश था। एक निर्भय, निठुर, हृदय-हीन बाधा उसके और पूसी के बीच में मौजूद थी। किवाड़ बन्द थे, और मा जाग रही थी। अन्त में जब विश्वास हो गया कि वह सो गयी, तब चुपचाप उठा, दरवाज़ा खोला, और बाहर आया। चारों तरफ़ अँधियारी। पानी बरस रहा है। पूसी वहीं दीवार के पास दुबकी पड़ी थी। दरवाज़ा छोड़ कर कहीं गयी नहीं। किवाड़ खुलने की आहट पाते ही झट से दौड़ कर आ गयी। यहाँ तो यह भीग गयी है ! तो कहाँ ले जाय ? घर के भीतर ? राम कहो। अब वह स्वप्न में भी उसे घर में

रखने का विचार न करेगा! वह तो यह कहो कि घास और कूड़े के ढेर पर गिरी, वरना हाथ-पैर टूटने में कुछ कसर नहीं रही थी। लालटेन के उजाले में यह दालान दिखायी दिया। पूसी को यहाँ रख कर जल्दी से घर जायगा, और दरवाज़ा बन्द करके चुपचाप सो जायगा। मा को कुछ ख़बर ही नहीं होगी। कैसा मज़ा है! भीगने की तो कुछ परवा नहीं। मा की आँख न खुल गयी हो, इतना ही डर है!

प्रकृति मूक-मग्न है। ग्रीष्म के ताप से वह इतनी तपी है कि जब सब प्राणी सो रहे हैं, तब उसे स्नान करने की पड़ी है। इस लड़के और उसकी पूसी से उसे कुछ सरोकार नहीं। कितनी निठुर और निरपेक्ष है वह!

बरसते हुए पानी में होकर खिड़की पर मेरी दृष्टि पड़ती है। सहसा स्मरण हुआ कि ट्रेजेडी वहाँ मेरी प्रतीक्षा कर रही है। पूसी को मैंने वहाँ नहीं रखने दिया। रात में या तो वह भाग जाती, अथवा कोई जानवर उसे उठा ले जाता। लड़के से मैंने कहा कि पूसी को घर के भीतर रख दे, और निश्चिन्त होकर अपने घर जाय। लड़का बहुत ख़ुश है। उसके सूखे होठों पर आनन्द की रेखा है। पूसी को मैं पालूँगा। वाह, तब तो वह रोज़ यहाँ आकर उसे अपने हाथ से नहलायेगा, और रोटी खिलायेगा। देखूँ, मा कैसे मना करती है।

लड़का चला गया। मैं पूसी को लिये दुःखी मन से घर के भीतर आया। आहिस्ते से किवाड़ बन्द किये। चारपाई के पास पहुँचा। इतने में ही पत्नी ने करवट बदली, और लैम्प के प्रकाश से चकचौंधियायी

आँखों को खोलने का प्रयत्न करती हुई निद्रा-अलस स्वर में बोलीं—'कहाँ थे ? अभी तक सोये नहीं ? तुम्हारे मारे बड़ी हैरान हूँ। न ख़ुद सोओ, और न सोने दो।'

'उँह......' फिर कुछ सुना।

'उठो भी। कितना दिन चढ़ आया !'

'क्या है......?'

'मेरी बला से। चाहे दिन-भर पड़े सोते रहो......।'

'तुम तो बहुत तंग करती हो। बुरे मौक़े पर तुमने जगा दिया। मैं एक ट्रेजेडी लिख रहा था, बड़ी बढ़िया ट्रेजेडी। तुम्हारी अक़्लमन्दी से वह अधूरी रह गयी।' फिर आँखें मलीं, और वही लड़का पूसी को गोद में लिये मानो मेरे सामने खड़ा है, और सिसक-सिसक कर रो रहा है।

'होगी तुम्हारी ट्रेजेडी। स्वप्न में भी तुम लिखते ही रहते हो। दुनिया उठ बैठी, और आपका अभी सवेरा नहीं हुआ।' कहती हुई वह अपने काम से दूसरे घर चली गयीं।

आँखें मलते हुए मैं उठ बैठा। सवेरा हो गया है। घर में प्रभात के सूर्य का उज्ज्वल आलोक फैला है। रात को एक कहानी लिखते-लिखते सो गया था। परन्तु उससे इस ग़रीब लड़के और उसकी पूसी का कुछ सम्बन्ध मेरी समझ में नहीं आ रहा है। स्वप्न की स्मृति मुझे उदास बना रही है, और मैं उन दोनों के लिए ही दुःखी हूँ।

भूत

मुझे अपने विद्यार्थी-जीवन की एक घटना कभी नहीं भूलेगी। मैं उस समय हिन्दी मिडिल स्कूल की छठो कक्षा में पढ़ता था। स्कूल मेरे गाँव में नहीं था; बल्कि वहाँ से पन्द्रह मील दूर एक तहसील में था। मैं छात्रावास में रहता था। मेरे साथ मेरे गाँव का एक विद्यार्थी और पढ़ता था। वह मुझ से अवस्था में कुछ बड़ा था। हम दोनों एक ही कक्षा में पढ़ते थे। प्रति शनिश्चर की सन्ध्या को हम दोनों अपने घर जाते थे। स्कूल से छुट्टी मिलती और चल देते। नौ-दस बजे घर पहुँच जाते। इतवार को रहते। सोमवार को फिर सवेरे चल पड़ते। हमारा यह घर जाना और आना यन्त्र-चक्र की भाँति नियमित हो गया था। मुझे ऐसे किसी शनिश्चर का स्मरण नहीं आता—सिवा एक के और जिसका मैं उल्लेख करने बैठा हूँ—जब मैंने पन्द्रेह मील का मार्ग तय करके अपने घर जाकर ब्यालू न की हो। घर पर सब लोग मेरी प्रतीक्षा में बैठे मिलते थे। मा खाने की कोई नयी चीज़ बना कर रखती थीं। बहन मुझे देखते ही दौड़ कर मेरी गोद में आ जाती थी। शनिश्चर की

सन्ध्या को स्कूल से बाहर निकलते ही मैं घर की कल्पना करने लग जाता था। उस दिन मुझे न सर्दी लगती थी, न गर्मी सताती थी और न वर्षा ऋतु की विघ्न-बाधाओं का अनुभव होता था। डर भी नहीं लगता था; क्योंकि हम दो थे और वह अवस्था ऐसी थी, जब प्रत्येक युवक में दुस्साहस की थोड़ी-बहुत मात्रा अवश्य होती है। मुझमें यह कुछ अधिक थी। हम दोनों ही पन्द्रह मील मानो दौड़ कर घर जाते थे। थकान का अनुभव होना तो दूर रहा, उसका ध्यान भी हमारे मन में नहीं आता था; परन्तु अब यह हाल है, कि काम पड़ने पर पाँच मील चलना भारी मालूम होता है।

शनिश्चर की सन्ध्या मेरे लिए बड़ी सुन्दर और सुहावनी थी। भौंरों का मधुर गुंजार जैसे कोकिल के लिए वसन्त का प्रिय सन्देश लाता है, शनिश्चर की सन्ध्या के दिन छुट्टी का घण्टा मेरे लिए वैसे ही स्वर्ग का सन्देश लाता था। मेरे उस स्वर्ग में स्वतन्त्रता का उल्लास और घर का सुख ही सुख था। उन दिनों का स्मरण करके मेरा हृदय आज भी पुलकित हो रहा है, मानो आज शनिश्चर है और मैं अपनी पाठ्य-पुस्तकों को कोठरी में बन्द करके, स्कूल के कठिन शासन और नियन्त्रण से एक दिन का छुटकारा पा कर अपने घर जा रहा हूँ।

एक ऐसे ही शनिश्चर की बात है। सवेरे से ही घर जाने के मनसूबे बँध गये थे; मगर उन सब पर पानी फिर गया। मेरे साथी रामाधार को दोपहर से ज्वर चढ़ आया। मैं बड़ी चिन्ता में पड़ा। नेत्रों के सामने निराशा की अँधियारी छा गयी। रामाधार ने कहा—'अब मत

जाओ। मैं भी यही सोचने लगा। सावन का महीना, अँधेरी रात्रि। निर्जन और बीहड़ मार्ग था; पर मैं अपनी कल्पना के नेत्रों से घर के लोगों की प्रतीक्षा का दृश्य अंकित करने लगा। चन्द्रमा को देख कर जैसे समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ने की चेष्टा करने लगता है, मेरा मन वैसे ही छुट्टी के स्मरण-मात्र से घर की ओर दौड़ गया। मैंने कहा—'मैं तो जाऊँगा।'

रामाधार ने मुझ पर अपनी मित्रता का अधिकार जता कर कहा—'देखो, यह तो ठीक नहीं। तुम जाओगे, और मैं यहीं रहूँगा!'

मैंने उत्तर दिया—'इसी वजह से तो मेरा जाना और भी आवश्यक है; नहीं तो घर के लोग चिन्तित होंगे।'

मेरे इस तर्क के सामने रामाधार कोई युक्तिपूर्ण बात नहीं कह सका। उसने कहा—'अच्छा, जाओ। बमरौली के ताल पर भूत मिलेगा।'

बमरौली के ताल के किनारे एक विशाल वटवृक्ष के ऊपर रहने वाला यह भूत अनेक लोगों को अनेक बार मिल चुका था; पर मैंने और रामाधार ने उसे कभी नहीं देखा था। इसके अतिरिक्त एक पढ़े-लिखे और समझदार विद्यार्थी होने की वजह से भूत पर मेरा विश्वास भी नहीं था; इसलिए रामाधार की बात को मैंने हँसी में उड़ा कर कहा—'अजी, मैं भूत की परवा नहीं करता!'

वह बोला—'देख लेना। लम्बे-लम्बे हाथ, बड़ी-बड़ी खीसें, भयानक चेहरा—'

'अच्छा, अच्छा!'

मैंने कन्धे पर चादर डाली, हाथ में डण्डा लिया, जेब में छोटी बहन के लिए मिठाई मँगा कर रक्खी और चल दिया।

(२)

रामाधार की बातों में, चलते-चलते बहुत विलम्ब हो गया था। मैं सपाटे से क़दम रखता हुआ बस्ती से बाहर निकला। उस समय सूर्य अस्त हो रहा था। सन्ध्या निस्तब्ध और गम्भीर थी। सड़क के किनारे के वृक्ष न जाने किस अनर्थ की आशंका से जड़ीभूत-से खड़े थे। सावन का महीना होने पर भी उस दिन आकाश मेघहीन था। केवल पश्चिम में नीले मेघ का एक सघन स्तर था। अस्तंगत सूर्य की सुनहली आभा में वह सम्पूर्ण मेघ शुक्तियों के अन्तर भाग की तरह शोभित हो रहा था। नीचे हरी दूब थी। दूब और आकाश के बीच में एक बड़े से पद्मरागमणि की भाँति सूर्य चमक रहा था। वह अस्त होने ही वाला था। मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो दिगन्त तक फैली हुई उस शस्य-श्यामला भूमि को देखने के लिए वह अब भी ललक रहा है। मैं उस समय न तो होनहार कवि था, न दार्शनिक था और न प्रकृति का आलोचक ही था—और न अब हूँ। फिर भी वह दृश्य मुझे बड़ा भला मालूम हो रहा था। सड़क पर गाड़ियाँ चल रही थीं। चरवाहे ढोरों को लेकर लौट रहे थे। बछड़े रँभा और दौड़ रहे थे। मैं इन सब से बच कर सड़क के किनारे चल रहा था और सूर्य का अवसान देख रहा था। वह धीरे-धीरे अस्त हो रहा था, मानो समुद्र के शान्त जल में डुबकी लेने का आनन्द ले रहा हो। देखते-देखते वह क्षितिज में समा गया। मैं

सोचने लगा, 'यह कहाँ चला गया है ? क्या इसे सचमुच किसी दैत्य ने निगल लिया है अथवा समुद्र ने आत्मसात् कर लिया है ?'

अब उस नीले मेघ-स्तर की शोभा और भी बढ़ गयी। मानो सूर्य के जाते ही किसी चित्रकार ने उसको रँगना आरम्भ कर दिया हो। रङ्गों का कैसा खेल था ! देखते-देखते मिटने लगा। वह नीला बादल पहले रङ्गबिरङ्गा, और फिर मटमैला होकर एकदम स्याही की तरह काला हो गया। मुझे वह सब बहुत बुरा मालूम हुआ। मैंने अपने चारों ओर दृक्पात किया। अवनीतल पर अन्धकार की चादर पड़ चुकी थी और आकाश में नक्षत्र जगमगाने लगे थे।

मार्ग धीरे-धीरे निर्जन हो चला; परन्तु बीहड़ नहीं हुआ था। मेंढ़कों का कर्कश-स्वर आगत यामिनी की निस्तब्धता को चीर सा रहा था। कभी-कभी मोर भी बोल उठते थे। मैं यह देखने के लिए कि सड़क पर कोई मोर तो नहीं है दोनों ओर नज़र फेंकता और मोर जङ्गल में ही नाचता है इस प्रांतवाद की सत्यता का अनुभव करके फिर आगे चलने लगता। नक्षत्रों के प्रकाश में सड़क अच्छी तरह दिखायी पड़ती थी। मार्ग में दो-तीन राहगीर मिले। एक बैलगाड़ी भी मिली। उसके बाद फिर निर्जनता बढ़ चली और अन्धकार भी।

मैं सात मील निकल आया था। आगे जो पुल था वहाँ से मेरे गाँव के लिए कच्चा रास्ता गया था। कंकरीट की पक्की सड़क बायीं ओर छोड़ देनी पड़ती थी। मैं कच्चे रास्ते पर उतरा। ख़ूब दलदल और कीचड़ थी। गत शनिवार को इस मार्ग का हाल और भी बुरा था;

परन्तु तब रामाधार साथ था। गपशप करते हुए उस बरसाती कच्ची सड़क को पार करके किस तरह घर पहुँच गये थे, पता भी नहीं चला था; आज अकेले होने की वजह से मुझे वह मार्ग बहुत अखरने लगा। जूते हाथ में लेकर, नक्षत्रों के क्षीण प्रकाश की सहायता से, कीचड़ आदि से बचता हुआ धीरे-धीरे चलने लगा।

दोनों ओर बबूल का घना जंगल था। उसके निकट पहुँचने पर मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं बिलकुल अकेला हूँ। अकेला तो था ही, इस कारण अपने विचार पर मुझे हँसी भी आयी। बात यह थी कि वहाँ मेढकों की आवाज़ भी नहीं सुनायी पड़ती थी। मेरे मन को किसी से बात करने की आवश्यकता प्रतीत हुई; परन्तु वहाँ कोई ऐसा नहीं था। लाचार होकर मैंने गुनगुनाना शुरू किया। फिर गाने लगा। फिर सघन वन की निस्तब्धता को अपनी पाठ्य-पुस्तक में लिखित 'वृन्द-सतसई' के दोहे सुनाने लगा; परन्तु यह देख कर मुझे बड़ा खेद हुआ कि उन दोहों के बदले में मुझे केवल किसी वन्य-पक्षी का विकट चीत्कार सुनने को मिला। मैं इससे निराश नहीं हुआ। धीरे-धीरे अपने ही मन को रामायण की चौपाइयाँ सुनाने लगा। मेरा मन इन्हें सुनने के लिए राज़ी नहीं हुआ। तब मैं उस जंगली चिड़िया के विकट चीत्कार को भुलाने की चेष्टा करता हुआ इधर-उधर देखने लगा।

वन की सघनता कम हो चली थी; परन्तु यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि अन्धकार बढ़ रहा है। मैंने आकाश की ओर देखा। मेघ का वह काला टुकड़ा बढ़ कर बहुत विशाल हो गया था।

वह बढ़ता ही जाता था, मानो किसी ने 'सहस्र रजनी-चरित्र' में वर्णित उस डिबिया को खोल दिया हो, जिसमें धुएँ के रूप में एक दैत्य बन्द था और जिसने डिबिया के खुलते ही अपने विशाल आकार से समस्त अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लिया था। हाँ, वह मेघ-खण्ड उसी प्रकार बढ़ रहा था। उसने उस दैत्य की भाँति ही अपनी भयावनी काया को फैला कर समस्त आकाश को ढँक लिया। पृथ्वी पर नक्षत्रों का आलोक रुक गया। सर्वत्र अन्धकार—घोर अन्धकार! सामने की ज़मीन नहीं दिखायी पड़ती थी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मुझे डर लग रहा है। मेरे मन पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसन्नता ने अधिकार जमा लिया। मैंने पीछे घूम कर देखा। वहाँ कोई भी नहीं था। फिर भी किसी प्राणी—किसी चलती-फिरती वस्तु—को देखने के लिए मेरा हृदय अस्थिर हो उठा। मुझे चोर का डर नहीं था; डाकू का भय नहीं था; क्योंकि मेरी जेब में एक भी पैसा नहीं था। फिर भी मुझे डर लग रहा था और डर का कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई मेरा पीछा कर रहा है। मुझे उसके पैरों की आहट स्पष्ट सुनायी पड़ी। मैंने पुनः पीछे घूम कर देखा। कोई भी नहीं दिखायी पड़ा। मुझे सर्दी लगने लगी। इसका कारण मैंने यही निर्धारित किया कि ठण्डी हवा चल रही है।

बमरौली का ताल अभी एक मील दूर था और गाँव डेढ़ मील। उसके बाद फिर मेरा गाँव था। मैं तेज़ी से चलने लगा। रामाधार ने मुझसे बमरौली के भूत के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, मैंने उसे

भुलाने की चेष्टा की ; परन्तु कोई मेरे साथ-साथ अवश्य चल रहा था और अब वह सामने आ गया ! निस्सन्देह वही था, जो अभी मेरे पीछे चल रहा था। मैंने अपने सामने किसी की काली छाया देखी। मेरा हृदय धड़क उठा ; परन्तु मैं बिलकुल कायर और दुर्बल-हृदय नहीं था। मैंने अपने हृदय को धमकाया—'हश ! कोई नहीं है।'

परन्तु यह क्या ? मुझे डर लगा रहा था। मैं स्वयम् अपने विचारों से डर रहा था। और अपने पैरों की आहट से भयभीत हो रहा था। मैंने सामने देखना बन्द कर दिया ; परन्तु भूत-प्रेतों की अनेक कथाएँ मेरे मस्तिष्क को उत्तत करने लगीं। भूत कभी मुर्गी बन जाते हैं, कभी भेड़ बन जाते हैं, कभी पथिक को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए आग जलाते हैं, और कभी उसे निगल जाने के लिए विकराल दैत्य का रूप धारण कर लेते हैं—ये विचार किसी प्रकार भी मेरा पीछा नहीं छोड़ रहे थे।

पर वह छाया क्या फिर मेरे पीछे आ गयी ? मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो मेरे आस-पास का प्रत्येक जड़-पदार्थ किसी माया-बल से सजीव होकर मेरे पीछे दौड़ रहा है। यह निस्सन्देह उसी की करतूत है। वह काली छाया मेरे पीछे आकर मुझे डराना चाहती है। मैं गर्दन नहीं मोड़ सका, फिर भी पीछे देखने की एक प्रबल और दुर्दमनीय इच्छा से विवश होकर मैंने देखा—वही काली छाया थी। मेरा श्वास रुद्ध हो गया, सर्वाङ्ग बेत की तरह काँपने लगा। मैं धरती पर गिरने को हो गया। मैंने संकटमोचन हनुमान का नाम लिया। इससे हृदय कुछ दृढ़

हुआ। मैंने कहा—'भूत कोई चीज़ नहीं होती। मुझे केवल भ्रम हो रहा था।'

मैंने दृष्टि उठायी। वह फिर सामने था। अबकी बार बहुत ही निकट, बिलकुल निकट। वह निस्सदेह पीछे नहीं गया था; बल्कि अपने स्थान पर खड़ा था। मैंने उसकी काली भयावनी छाया बहुत ही स्पष्ट देखी। पूर्व-पश्चिम की ओर फैले हुए लम्बे-लम्बे हाथ, भीषण बड़ी-बड़ी खीलें और विकराल चेहरा, मानो वह मुझको, समस्त पृथ्वी को और समस्त अन्धकार को अभी निगल जायगा। वह मेरी ओर बढ़ रहा था। भय से मेरे हाथ-पैर ढीले पड़ गये, पसीने से मेरा सर्वाङ्ग भीग गया। वह मेरे निकट आ गया था—बिलकुल—ओह! मैं बबूल के पेड़ का सहारा लेना चाहता था; परन्तु उस तक पहुँचने के पहले ही संज्ञाहीन होकर ज़मीन पर गिर पड़ा।

× × × ×

मैं रात-भर बेहोश रहा या सोता रहा, मुझे पता नहीं। प्रातःकाल प्रकाश के प्रथम स्पर्श से मेरी पलकें अपने-आप खुल गयीं। कुछ तो खेतों की उन्मुक्त शीतल वायु के स्पर्श और कुछ गत-रात्रि की घटना के स्मरण से मुझे रोमांच हो आया। मैंने नेत्र फैला कर सामने देखा। वहाँ, मुझसे पचास गज़ की दूरी पर घास की एक गाड़ी उलटी पड़ी थी। ज्वारी ऊपर और पीछे का भाग धरती पर। पास ही एक आदमी खड़ा था। उसके निकट जाकर मैंने पूछा—'क्यों भाई, क्या हुआ है?'

वह बोला—'सन्ध्या को गाँव से बाहर निकलते ही धुरा टूट गया।'

'फिर ?'

'कुछ नहीं। रात-भर गाड़ी यहीं पड़ी रही। अब धुरा ठीक होने पर जा सकूँगा।'

'और रात में तुम कहाँ रहे ?'

'पहले तो गाँव में चला गया था। फिर यहीं आकर सोता रहा।'

गाड़ीवान से अधिक पूछने की आवश्यकता नहीं हुई। पल-भर में मैंने रात्रि के उस निविड़ अन्धकार में इस उलटी हुई गाड़ी को देख लिया। ओफ़ ! यही गाड़ी मेरे लिए भूत बन गयी थी ! ऊपर का जुआ दो हाथ ! और नीचे का हिस्सा धड़ ! भूत के पैर, सो होते नहीं ! मुझे अपनी मूर्खता पर बड़ी हँसी आयी और जब मैं सोमवार को स्कूल पहुँचा और रामाधार को सारा क़िस्सा सुनाया, तब वह तो हँसी के मारे लोटने लगा। उसकी हँसी दूसरे प्रकार की थी। बोला—'कहो, मैंने मना किया था न ?'

मैं सुनसान जंगल में रात-भर एक पेड़ के नीचे बेहोश पड़ा रहा, यह जान कर उसे कुछ दुःख भी हुआ या नहीं, यह वही जाने। मैंने कभी पूछा नहीं।

विचारों का आदर

'तो मैं व्यर्थ झमेले में पड़ा हूँ ?'

'जी हाँ।'

'तू विवाह नहीं करेगा ?'

'जी नहीं।'

'यह तेरा अन्तिम निश्चय है ?'

'जी—'

'बेशर्म ! 'जी हाँ' 'जी हाँ' करता है। जा दूर हो मेरे सामने से।' कह कर बाबू रत्नाशंकर क्रोध से काँपते हुए कमरे से बाहर निकल गये।

शिवाधार के मुँह से शब्द नहीं निकला। वह अचानक वज्राहत की भाँति जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। पिता के असन्तुष्ट हो जाने की आशंका ने उसे चिन्तित बना दिया।

तीन महीने हुए शिवाधार की पत्नी का देहान्त हो गया है। इस घटना से उसे दुःख हुआ सो तो ठीक ही है। पर अब वह दूसरा विवाह नहीं करना चाहता। उसके इस निश्चय में उसकी गत-पत्नी की पुण्य स्मृति का कितना दावा है इसे वही जाने। इस समय वह केवल अपने

.क सिद्धान्त को लेकर अड़ा हुआ है। वह पुरुषों के लिए पुनर्विवाह की व्यवस्था को ठीक नहीं समझता। अपने इस विचार को वह कालेज की वाग्वर्द्धिनी सभा में अनेक बार प्रकट कर चुका है। वह कहता, 'विधुरों को यदि विवाह करना ही है तो विधवाओं से करें। कुमारियों से विवाह करके अविवाहित पुरुषों का हक़ छीनने का उन्हें क्या अधिकार है ?' इस तरह की बात सुनकर उसके मित्र कहते, 'ईश्वर न करे तुम विधुर हो जाओ। फिर देखें, किस प्रकार विवाह नहीं करते।' शिवाधार उत्तर देता, 'कदापि नहीं ! मैं विवाह हरगिज़ नहीं करूँगा।'

परन्तु शिवाधार के सारे घर ने मानो उसकी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध विद्रोह ठान दिया है। उसके माता-पिता इसी ज्येष्ठ में किसी प्रकार उसका विवाह कर देना चाहते हैं। तीन जगह बातचीत हो रही है। सभी जगह लड़की अच्छी, घर अच्छा, और दहेज भी काफ़ी। मगर शिवाधार राज़ी नहीं होता। ऐसी हालत में उसके पिता का क्रुद्ध हो जाना स्वाभाविक ही है। उस क्रोध में कटुता अथवा निराशा नहीं थी। पुत्र को नालायक़, बेशर्म आदि आदि उपाधियों से विभूषित करते हुए वह कमरे से बाहर निकल गये। शिवाधार थोड़ी देर किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा खड़ा रहा। फिर सोचने लगा—

'यह तो इनकी सरासर ज़ुबर्दस्ती है। मैं विवाह नहीं करता। मेरी ख़ुशी। लीजिये, मैं नहीं करूँगा।'

इतने में कमरे के भीतर किसी की छाया पड़ी। देखा, मा मौजूद हैं। उन्होंने आते ही कहा—

'शिवू ! तू क्या पागल हो गया है ! देख तो बाहर बाबूजी कितना चक-झक रहे हैं। उन्हें इस तरह नाराज़ करना ठीक नहीं। चल उनसे कह दे, अथवा ठहर, मैं कहे देती हूँ कि तू राज़ी है।'

शिवाधार की निश्चलता में मानो मा ने एक मज़बूत गाँठ लगा दी। वह उत्तेजित होकर बोला—

'नहीं, नहीं ! मैं विवाह नहीं करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा। बस। जाओ, मेरा दिमाग़ ख़ाली मत करो।'

'विवाह क्यों नहीं करोगे ?'

'कह तो दिया, मेरी खुशी !'

'क्या तेरी ख़ुशी पर हम लोगों का कोई अधिकार नहीं है ?'

'है क्यों नहीं।'

'फिर ?'

शिवाधार चुप रहा। मा ने गरम तवे पर एक साथ ही बहुत-सा पानी उँडेल दिया था। शिवाधार का हृदय शीतल ही नहीं हो गया, वरन् आर्द्र भी।

उसे निरुत्तर देख कर माँ ने कहा—'तुझे मेरी सौगन्ध ! बता। कैसी लड़की चाहिए। तेरा मन भर जाय तब विवाह करना, नहीं तो नहीं।'

शिवाधार बोला—'मुझे तो विवाह करना ही नहीं है।'

'नहीं, तू अब इस प्रकार टाल नहीं सकता।'

'ख़ूब ! तुम पिताजी से क्या कहोगी ?

'जो तू कहेगा।'

शिवाधार कुछ सोच कर मन ही मन मुस्कराया।

'अच्छी बात है। मैं विवाह करूँगा, मगर दो शर्तों पर। लड़की की अवस्था सोलह वर्ष से कम न हो, और एन्ट्रेन्स पास हो।'

मा को मानो निराशा के अथाह जल में तिनके का सहारा मिल गया। प्रसन्न होकर बोलीं—यह तो कोई बात नहीं। तूने अब तक क्यों नहीं कहा? सोलह की न सही, चौदह-पन्द्रह की तो बहुत सी लड़कियाँ मिल जायँगी। और पढ़ी-लिखी तो आज-कल सब होती हैं।'

शिवाधार दृढ़ता से बोला—'सो नहीं। सोलह वर्ष की और एन्ट्रेन्स पास। अन्यथा मैं विवाह नहीं करूँगा।'

'हाँ, हाँ, समझ लिया।' कह कर उसकी मा सीधी अपने पति के पास पहुँची।

शिवाधार को मानो निष्कृति मिली। उसने एक साँस ली। फिर मन ही मन बोला—'चलो, कुछ दिनों के लिए जान बची। ऊमर वैश्यों में एन्ट्रेन्स पास लड़की मिलना हँसी-खेल नहीं है।'

(२)

अपने लड़के की विवाह न करने की भीष्म-प्रतिज्ञा को ऐसे विचित्र रूप में प्रस्फुटित होते देख कर वकील रमाशंकर मन ही मन खूब मुस्कराये। फिर अपनी पत्नी से बोले—

'तो वह विवाह करने को राज़ी है!'

'अब एक दफ़े तो कह दिया।'

'क्या कहता था, एन्ट्रेन्स पास लड़की—'

'हँसी की बात नहीं। मैंने उसे बड़ी मुश्किल से राज़ी किया है। अब उसके लिए किसी तरह एन्ट्रेन्स पास लड़की ही खोजनी होगी।'

'तुम बड़ी पागल हो। समझती नहीं। लड़का और क्या कहता? लड़कों की हठ जब नम्र होती है तब बन्धन के साथ। नहीं तो उनकी हँसी न हो।'

'मुझे क्या करना। तुम्हें जो दीखे सो करो। कहीं यह फिर न मचल जाय।'

'अब नहीं मचलेगा।'

रमाशंकर ने समझ लिया कि लड़का पढ़ी-लिखी और सुन्दर लड़की चाहता है। फिर भी उसकी दिलजमई के लिए उन्होंने तीन-चार हिन्दी और अँग्रेज़ी के दैनिक पत्रों में इस आशय का एक विज्ञापन छपवा दिया—

'२४ वर्ष के एक विपत्नीक ग्रेजुएट युवक के लिए एक ऊमर वैश्य कन्या की आवश्यकता है। लड़की एन्ट्रेन्स पास हो, सुन्दर, सुशील, और घर-गृहस्थी के कार्य में चतुर।'

शिवाधार की मित्र-मण्डली में इस विवाह-विज्ञापन की धूम मच गयी। सभी ने उसे इस तरह पढ़ा, मानो शक्कर की चाशनी चख रहे हों। फिर उन्होंने शिवाधार को लिया। उसका एक घनिष्ठ मित्र पीठ पर घूँसा जमा कर बोला, 'कहो हज़रत, कल तक तो विवाह के नाम से ऐसा बिचकते थे जैसे सुर्ख़ रंग से बैल। मगर आज यह क्या हो गया?'

शिवाधार झल्ला कर बोला—'तुम सब गधे हो। हमारी बिरादरी में एन्ट्रेन्स पास तो क्या, हिन्दी मिडिल पास लड़की भी मिलनी मुश्किल ! मैंने सिर्फ़ पिता की असन्तुष्टि से बचने के लिए इस रूप में उन्हें अपनी स्वीकृति दे दी है।'

मित्रों ने कहा—'और यदि एन्ट्रेन्स पास लड़की मिल गयी !'

'यह असम्भव है। घूरे पर भी कहीं कंचन होता है।'

'जी हाँ, मिल गया तो आप उसे त्याज्य नहीं समझेंगे।'

धीरे-धीरे उसके सब मित्रों और परिचितों में यह ख़बर फैल गयी। उसके लिए सिर उठाकर चलना मुश्किल हो गया। वह किसी प्रकार भी उन्हें यह विश्वास नहीं दिला सका कि वह विवाह नहीं करना चाहता। इससे उसे बड़ा क्षोभ हुआ। रात में वह बड़ी देर तक अपनी स्थिति पर विचार करता रहा। अपनी दुर्बलता पर उसे बड़ी हँसी आयी। उसने और हृदय को दृढ़ बनाया। प्रतिज्ञा कर ली कि वह किसी भी दशा में अपना विवाह नहीं करेगा।

चार दिन बाद एक दूसरी मुसीबत आयी, जिसका उसे ध्यान नहीं था। विवाह-विज्ञापन के फलस्वरूप उसके पिता के पास दर्जनों चिट्ठियाँ आने लगीं। कोई लड़की मिडिल में पढ़ती है, कोई अँग्रेज़ी पढ़ी-लिखी है, किसी का पिता अपनी लड़की को साल भर में अँग्रेज़ी पढ़ा देने का वचन देता है, कोई दहेज़ में तीन हज़ार रुपये दे रहा है, कोई लड़के को विलायत तक भेजने के लिए राज़ी है—इस प्रकार की सैकड़ों बातें।

रमाशंकर वे सब चिट्ठियाँ शिवाधार के पढ़ने के वास्ते अपनी मेज़ पर छोड़ जाते। सन्ध्या को मा आकर कहती—

'शवू, इतनी लड़कियाँ तो हैं, क्या तुझे एक भी पसन्द नहीं। देख, एक लड़की की फोटो भी आयी है। देखने में कुछ बुरी नहीं। और वह लखनऊ की लड़की—अँग्रेज़ी पढ़ी है, हिन्दी मिडिल पास है, सीना-पिरोना जानती है—क्यों—क्या कहता है?'

शिवू का एक उत्तर था—मैं शादी करूँगा तो एन्ट्रेन्स पास लड़की से!

परन्तु जब रोज़ ही का क़िस्सा होने लगा तब शिवाधार घबरा उठा। उसने एक उपाय सोचा। पिता से कहने लगा—

'आप आज्ञा दें तो दो-चार रोज़ के लिए इलाहाबाद तरफ़ घूम आऊँ।'

इलाहाबाद में उसके मामा थे। दो-चार रोज़ का तो बहाना था। वह पन्द्रह-बीस दिन में घर वापिस आने के लिए उसी दिन इलाहाबाद के लिए रवाना हो गया।

एक सप्ताह बाद सहसा शिवाधार को पिता का एक तार मिला। उसमें शीघ्र आने को लिखा था। इस अप्रत्याशित संवाद को पाकर वह पहले तो झुँझलाया, फिर उद्विग्न हुआ। तार का वास्तविक उद्देश उसकी समझ में नहीं आया। क्या कोई दुर्घटना हुई है? अथवा केवल उसकी उपस्थिति की ही आवश्यकता है? उसे अन्तिम बात ही ठीक जान पड़ी।

बसना-बोरिया बाँध कर वह स्टेशन पहुँचा। उसे इन्टर क्लास में सफ़र करने की आदत थी। टिकट लिया। दस मिनट बाद गाड़ी आ

गयी। दरवाज़ा खोला। भीतर पैर रखते ही वह कुछ ठिठक गया। सबसे पहले उसकी दृष्टि एक युवती बालिका पर पड़ी। पास ही दूसरी बेंच पर एक युवक लेटा था। डिब्बे में अन्य कोई नहीं था।

शिवाधार को देख कर दोनों ही कुछ चौंक गये। फिर युवक पूर्ववत् अपना अख़बार पढ़ने लगा, और युवती अपनी पुस्तक। शिवाधार ने एक बेंच पर बिस्तरा फैलाया। हैंड बेग नीचे रक्खा। फिर आराम से बैठकर खिड़की के बाहर सिर निकाल कर प्लेटफार्म का दृश्य देखने लगा। पास से एक फलवाला निकला। इच्छा न होते हुए भी दो सेब ख़रीद लिये। इतने में गाड़ी चल दी। एक-एक करके स्टेशन के सब दृश्य नेत्रों के सामने आये और निकल गये। धीरे-धीरे गाड़ी की चाल तेज़ हुई। नदी का पुल आया। शिवाधार ने उसे भी देखा। फिर सहसा भीतर सिर खींच कर डिब्बे के पार्श्व भाग से टिक कर बैठ गया। बालिका पुस्तक पर मस्तक झुकाये बैठी थी। शिवाधार ने उस ओर देखने की आवश्यकता नहीं समझी। अथवा अशिष्टता के ख़याल से उसने बलपूर्वक अपनी दृष्टि को इधर-उधर भटकने से रोक रक्खा। बेंच पर लेटा हुआ युवक अपने और शिवाधार के बीच में 'लीडर' के विशाल पन्नों का व्यवधान बना कर मानो कह रहा था—'मैं तुम से बात नहीं करना चाहता।' पढ़ने में निमग्न इन दो मूक और निस्तब्ध यात्रियों के मध्य में शिवाधार को अपनी स्थिति बड़ी हास्यास्पद बोध हुई। वह क्या पढ़े? अथवा किससे बात करे? अन्त में उसने जेब से चाकू निकाला, और एक सेब छीलना प्रारम्भ कर दिया।

फलों को छीलने और काटने का काम सदा ही बड़ी सुघड़ता से किया जाता है। और जब आप ट्रेन में यात्रा कर रहे हों और एक अपरिचित युवक और एक युवती बालिका आपके इस कार्य को देख रहे हों तब तो और भी सावधानी की ज़रूरत है। शिवाधार ने सेब को बड़ी खूबसूरती से छीला और तश्तरी के अभाव में उसे अपने रूमाल पर काट कर रक्खा।

इतने में सामने लेटे हुए युवक ने एक अँगड़ाई ली, अख़बार फेंक दिया, उठा और बालिका की ओर मुँह फेर कर बोला—

'सुधा, क्या कर रही हो?'

'आपका वही उपन्यास पढ़ रही हूँ, जो बनारस में ख़रीदा था।'

उस स्वर को सुन कर शिवाधार सेब के टुकड़े को मुँह में रखना भूल गया। उसे ऐसा जान पड़ा मानो उस डिब्बे के भीतर किसी ने वीणा के तार छू दिये हों। उसने क्षिप्रता से दाहिनी ओर दृक्‌पात किया, और तुरन्त मुँह फेर लिया। वह चौंक गया। बालिका उस समय थोड़ी देर के लिए पुस्तक पढ़ना स्थगित करके अपने भाई की ओर देख रही थी। उसकी सुन्दर छवि एक मुहूर्त में शिवाधार के हृदय पर अंकित हो गयी। अतिशय नवीन सौन्दर्य—मानो विधाता ने अभी गढ़ कर तैयार किया हो—विकसित शरीर, सुन्दर गोल मुखड़ा, नन्हा-सा मुख, घन कृष्ण भौंहें, मानो शरद के शुभ्र आकाश में दो इन्द्रधनु उदित हुए हों। शिवाधार पुनः उस ओर देखने का साहस न कर सका। और यदि उस समय किसी यन्त्र-बल से उसे अलक्ष्य नेत्र प्राप्त

हो जाते तो वह सेव का सदुपयोग करने के वजाय नीली साड़ी के भीतर सिमट कर वैठी हुई उस वालिका को देखना अधिक पसन्द करता। परन्तु इसकी कोई सम्भावना नहीं थी, इसलिए अपने को अभद्रता के दोष से बचाने के लिए उसने सेव को खाना ही अधिक समीचीन और समय-संगत समझा।

थोड़ी देर में स्टेशन आया। गाड़ी खड़ी हुई। अपरिचित युवक ने खिड़की के बाहर सिर निकाल कर चारों तरफ़ देखा, एक फल वाले को बुला कर कुछ केले मोल लिये, फिर अपने स्थान पर आकर वैठ गया।

दो केले उसने वालिका को दिये। एक छील कर शिवाधार के सामने वढ़ाया और कहा—'लीजिये।'

शिवाधार विमूढ़-सा हो गया। न तो अस्वीकार करते वना और न लेते वना। अन्त में उसने कहा, 'न, न, मेरे पास सेव हैं।'

'तो क्या हुआ।' कह कर युवक ने केला उसके रूमाल पर रख दिया। एक अपरिचित यात्री की इस शिष्टता ने उसे अपनी अशिष्टता का ज्ञान करा दिया। वह लज्जा से लाल हो गया। साथ ही मन ही मन अपनी मूर्खता पर अनुतप्त हो उठा। एक वार उसके मन में आया कि यह दूसरा सेव युवक को दे दें। परन्तु यह तो और भी मूर्खता होगी। उसे स्वयम् ऐसा जान पड़ा कि उसके चेहरे का भाव विगड़ रहा है। उसे छिपाने के लिए उसने युवक से कुछ वातचीत करनी चाही। पूछा—'आप कहाँ जा रहे हैं?'

'कानपुर।'

इसके बाद पुनः निस्तब्धता। अपना केला समाप्त कर चुकने के उपरान्त युवक ने पूछा—'और आप कहाँ जायेंगे?'

'मैनपुरी।'

'मैनपुरी!'

'जी!'

'वहाँ आपका घर है?'

'हाँ।'

'आप क्या करते हैं?'

'कुछ नहीं।'

'आपके पिता?'

'वकील हैं।'

'उनका शुभ नाम?'

'बाबू रमाशंकर गुप्त।'

युवक सहसा गम्भीर हो गया और बालिका सँभल कर बैठ गयी। उसने कहा—'तो आप उनके पुत्र हैं?'

'हाँ। आप क्या उनसे परिचित हैं?'

'नहीं।' युवक कुछ रुक कर बोला।

'लीडर में कई दिन से उनके नाम से एक विवाह-विज्ञापन पढ़ रहा हूँ। क्या लड़की की खोज आप ही के लिए हो रही है?'

'यही समझिये।'

'आपसे मिल कर बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरे एक मित्र हैं। वे आपके साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहते हैं। यदि वह सम्बन्ध हो गया तो फिर आपसे हमेशा ही भेंट हुआ करेगी।'

'अच्छा! यह बात है! मैं भी आपसे मिल कर बड़ा सुखी हुआ। और विशेष कर इस प्रवास के समय। देखता हूँ, इस विवाह-विज्ञापन की वजह से मेरी ख़ासी प्रसिद्धि हो गयी है। जहाँ जाता हूँ, वहीं इसकी चर्चा होती है। मेरे लिए अपनी मित्र-मंडली में जाना कठिन हो गया है।'

'सो क्यों?'

'बात यह है कि यह विज्ञापन मेरी इच्छा के प्रतिकूल प्रकाशित हो रहा है। मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहता। मैं नहीं करूँगा। मेरे इस विचार से मेरे सभी मित्र परिचित हैं। मैं पुरुषों के लिए पुनर्विवाह की व्यवस्था को अत्यन्त निन्दनीय समझता हूँ। मैं—'

शिवाधार की वाग्धारा आगे नहीं बढ़ सकी। युवक ने बीच में टोक कर कहा—'तो आपकी दूसरा विवाह करने की इच्छा नहीं है?'

'कदापि नहीं।'

युवक चुप हो गया। वह कुछ क्षुब्ध और असन्तुष्ट जान पड़ा। शिवाधार से फिर उसने बात नहीं की। थोड़ी देर बाद उसने बुलाया—'सुधा!'

बालिका मानो स्वप्नोत्थित की भाँति चौंक कर बोली—'क्या है?'

वह अब तक खिड़की की ओर मुँह फेर कर चुपचाप बैठी थी।

युवक ने कहा, 'तुमने केला नहीं खाया ?'

'खाती हूँ।'

शिवाधार उसकी गम्भीरता देख कर विस्मित हो गया। क्या वह दुःखी है ? अथवा उसकी यह गम्भीरता भी उसके सौन्दर्य का एक अंग है ?

वह लेट गया। और सोचने लगा, 'कैसी सुन्दर है ! और नाम कितना अच्छा है, सुधा !'

शिवाधार सुबह घर पहुँचा।

युवक अपनी बहिन के साथ कानपुर में उतर गया था।

शिवाधार अकेला मैनपुरी की गाड़ी में बैठा। उसे रात भर नींद नहीं आयी। डिब्बे के एक कोने में बैठ कर वह केवल सुधा का ध्यान करता आया। उस बालिका के प्रति उसका इतना आकर्षण क्यों हो रहा है, यह बात किसी प्रकार भी उसकी समझ में नहीं आयी।

सुबह जब उसने मैनपुरी स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर पैर रक्खा, तब उसका सर्वाङ्ग शिथिल हो रहा था। नेत्र लाल थे और चेहरा सूखा हुआ।

उसे अपनी मूर्खता पर हँसी आयी और उसने सुधा का ध्यान न करने की प्रतिज्ञा कर ली।

परन्तु इस प्रकार का ध्यान करना या न करना किसी के वश की बात नहीं है। शिवाधार ने देखा कि जिसकी मूर्त्ति उसके नेत्रों में समा गयी है, उसका ध्यान न करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। उसे सहसा

ध्यान आया कि वह उस युवक का पता नहीं पूछ सका। और अब वह अपनी इस मूर्खता पर अनुतप्त हुआ।

घर पहुँचने पर पता चला कि पिताजी ने उसके लिए एक लड़की खोज ली है। बातचीत एक प्रकार से पक्की हो गयी है। केवल उससे पूछना और शेष है। उसे इसीलिए तार देकर बुलाया गया है।

दोपहर को रमाशंकर के कचेहरी चले जाने के बाद उसकी मा ने कहा—

'देख, शिवू, अब तू किसी प्रकार भी नाहीं नहीं कर सकेगा। जैसी तू चाहता है वैसी ही लड़की है। उम्र पन्द्रह से कुछ ज़्यादा ही है। देखने में लक्ष्मी। इस साल एन्ट्रेन्स का इम्तिहान देगी। घर भी अच्छा। तेरे जाने के तीसरे दिन लड़की के बाप ने चिट्ठी भेजी। लड़की की तस्वीर भी है। देख—अब भी तेरा मन न भरे तो······'

शिवाधार इस बार पूर्व जैसी प्रबलता से मा की बात का विरोध नहीं कर सका। मा उठीं और एक फ़ोटो लेकर आयीं।

शिवाधार ने अपने हृदय की समस्त उपेक्षा प्रकट करके चित्र पर एक मामूली नज़र डाली। परन्तु यह क्या? उसकी दृष्टि मानो वहीं बँध कर रह गयी। वह क्या स्वप्न देख रहा है? अथवा उसे प्रत्येक वस्तु में सुधा ही दृष्टिगोचर होती है! उसने अपनी अलसायी हुई आँखों को बन्द किया और खोला। यह तो वही लड़की है जिससे ट्रेन में भेंट हुई थी। ठीक सुधा की प्रतिमूर्ति है! नहीं। ठीक सुधा ही है! वह भूल नहीं कर सकता। उसने सुधा की मूर्ति से इस चित्र की एक-एक रेखा मिलायी। वैसा ही

गोल चेहरा, वैसी ही रसीली आँखें, वैसी ही साड़ी। वह ऐसा विस्मित और विमोहित हुआ कि अपने सम्मुख माता की उपस्थिति भूल गया। चित्र को बड़ी देर तक देख चुकने के बाद बोला—

'मा, इसका नाम क्या है?'

'सुधा।'

'सुधा!' शिवाधार के मुँह से निकल गया। वह मा के सामने अपने को संयत नहीं कर सका। बोला—

'मैंने कल ऐसी ही एक लड़की देखी है।'

'कहाँ?'

'रेल में।'

'देखी होगी।'

'उसका नाम भी सुधा था। साथ में उसका भाई था। दोनों बनारस से आ रहे थे। कानपुर में उनका मेरा साथ छूटा।'

मा ने कहा, 'होगा! तू क्या कहता है। आज ही जवाब देना है। वे लोग इसी ज्येष्ठ में विवाह करने को तैयार हैं।'

'तो इसके लिए उन्हें मना कौन करता है?'

'फिर वही बात। यदि तू नहीं मानेगा तो अबकी बार मैं घर छोड़ दूँगी। काशी चली जाऊँगी। और फिर कभी यहाँ आने का नाम न लूँगी।'

शिवाधार का माथा घूमने लगा।

'मैं कुछ नहीं जानता। जो तुम्हें दीखे सो करो।' कह कर वह बाहर चला आया।

सन्ध्या को शिवाधार की मा ने अपने पति से कहा, 'शिवू राज़ी है। उन लोगों को आज तार दे दो।'

रमाशंकर ने पूछा 'उसने क्या कहा ?'

'कहेगा क्या। तस्वीर देख कर चुपचाप चला गया। इतने से ही समझ लो।'

तार शिवाधार के सामने ही दिया गया। परन्तु वह प्रतिवाद नहीं कर सका। रात भर उसके मस्तिष्क में एक अजीब उथल-पुथल मची रही। सुधा के मोहक रूप की प्रबलता के सम्मुख उसकी प्रतिज्ञा के पैर उखड़ गये। यह स्मरण करके कि जिस सुधा के उसने ट्रेन में दर्शन किये हैं, वही उसके हृदय-मन्दिर की अधिष्ठात्री देवी, बनने जा रही है उसके शरीर का रोम-रोम पुलकित हो गया। उसे फिर अपनी प्रतिज्ञा का ध्यान आया। मित्र-मण्डली क्या कहेगी? और अन्य जन क्या कहेंगे? कुछ नहीं। वे तो पहले से ही समझ बैठे हैं कि मैं विवाह कर रहा हूँ। ऐसी अवस्था में यदि वह सचमुच विवाह कर ले तो समाज में उसकी विशेष निन्दा न होगी।

शिवाधार सवेरे उठा, तो वह खूब प्रसन्न था।

दो दिन बीत गये। तार का उत्तर नहीं आया। तीसरे दिन डाकिया शिवाधार के हाथ में एक लिफ़ाफा दे गया। उस समय रमाशंकर कचेहरी गये थे। शिवाधार ने लिफ़ाफा खोल कर बड़ी उत्कंठा से पढ़ना शुरू किया।

विचारों का आदर

कानपुर

ता०.................

प्रिय बाबू साहब,

तार मिल गया था। एक ख़ास वजह आ पड़ी। इसलिए जवाब न दे सका। माफ़ कीजिये। हमें यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि अब हम यह सम्बन्ध नहीं करना चाहते। आप से सब स्पष्ट कह देना ठीक होगा। अभी उस दिन रासबिहारी अपनी बहिन को लेकर बनारस से लौट रहा था। संयोगवश मार्ग में शिवाधार बाबू का साथ हो गया। उनसे बातचीत के प्रसंग में रासबिहारी को ज्ञात हुआ कि वे पुनर्विवाह को बुरा समझते हैं, और अब अपना विवाह नहीं करना चाहते। ऐसी दशा में यह सम्बन्ध न हो तो ही अच्छा। हम शिवाधार बाबू के विचारों का आदर करते हैं और उनसे क्षमा चाहते हैं।

आपका—

....

शिवाधार के हाथ से पत्र छूट कर नीचे गिर पड़ा।

सुनते हैं फिर उन्होंने विवाह नहीं किया।

जेबकट

कानपुर से बम्बई को रात में जो एक्सप्रेस जाती है, मैं इसी ट्रेन से बम्बई जा रहा था। कुली ने एक खाली-से डिब्बे में सामान रख दिया। डिब्बे में कुल जमा कोई चार मुसाफिर थे जिनमें से तीन गाड़ी के आधे हिस्से में दूसरी तरफ़ की बेंचों पर बैठे थे। इधर की दो बेंचें खाली थीं सिवाय इसके कि सामने वाली बेंच के बिलकुल छोर पर फटी-पुरानी कमीज़ पहने एक नौजवान मुसाफिर गुमसुम, मगर आराम से बैठा था। दरवाजे के नज़दीक की जिस बेंच पर कुली मेरा सामान रख गया था और जो बिलकुल खाली थी, उसी पर अपने बिस्तरे फैला कर मैं आराम से लेट गया और ट्रेन के चलने की प्रतीक्षा करने लगा।

ट्रेन में मुझे नींद नहीं आती। भले ही आराम से जगह मिल जावे और भले ही डिब्बा खाली हो, परन्तु रात्रि के समय रेल-यात्रा में मुझे ऐसा मालूम होता रहता है कि अजीब-अजीब सपनों से घिरा हुआ मैं न जाने किस देश को जा रहा हूँ। अपने गन्तव्य स्थान को जा रहा हूँ ऐसा मुझे बिलकुल नहीं लगता। मगर दिन भर की माथा-पच्ची और घूमा-

फिरी से शरीर कुछ ऐसा शिथिल हो रहा था कि डिब्बे की रोशनी मुझे सह्य नहीं हो रही थी। इसलिए मैंने खिड़की की तरफ करवट ले ली और आँखें बन्द कर लेट गया। डिब्बे में एक तरह से शान्ति थी। और स्टेशन पर भी दिन का साधारण कोलाहल रात्रि के समय जैसे कुछ स्तब्ध था। अथवा मुझे ही ऐसा प्रतीत हो रहा हो। चुपचाप लेटा हुआ क्या सोच विचार रहा था, कह नहीं सकता कि ट्रेन चली, डिब्बे का दरवाज़ा खुला, किसी के भीतर प्रवेश की आहट हुई और इस सब के संग उसी अन्यमनस्क अवस्था में मैंने किसी को कहते सुना, 'समझे, उस नीली कमीज़ वाले पर नज़र रखना।' मेरी आँख खुल गयी और करवट बदली तो देखा कि रात्रि के समय ट्रेन के साथ चलने वाला पुलिसमैन है। उसके इस प्रकार प्रवेश से मेरे विचार-ग्रस्त मन में यकायक जो उत्सुकता पैदा हुई, उससे मुझे कुछ आराम-सा बोध हुआ। नीली कमीज़ वाला इस डिब्बे में कौन है यह मेरी समझ में नहीं आया। इधर जो मुसाफिर था उसके बदन पर एक फटी-मैली कमीज़ थी। बाक़ी के जो तीन मुसाफिर थे उनकी पीठ के सिवा मुझे और कुछ नज़र नहीं आ रहा था। इस लिए मैं पुलिसमैन को ही देखता रहा। पहिले तो वह कुछ देर तक खिड़की के बाहर सिर निकाले स्टेशन की तरफ देखता रहा। फिर मुँह फेर कर डिब्बे में आगे बढ़ा और बगल की खाली बेंच के बिलकुल छोर पर वह जो मुसाफिर बैठा था, उसके कन्धे पर हाथ रख कर बोला:—

'तुम्हारे पास टिकट है?'

बड़े आराम से पुलिसमैन की तरफ देखते हुए उसने कहा, 'नहीं साहब।'

'कहाँ जा रहे हो?'

'कालपी तक जा रहा हूँ।'

'कहाँ काम करते हो?'

'यहीं मील में।'

'और टिकट काहे नहीं लिया?'

'टिकट के लिए पैसे कहाँ पावें, हुजूर?'

'तुम लोगों के मारे तो नाक में दम है। पैसा नहीं है तो गाड़ी में काहे को बैठते हो? अभी वह तुम्हारा बाप टिकट कलक्टर आयेगा और दो धक्के लगाकर गाड़ी से निकाल बाहर करेगा।'

इससे ज़्यादा पुलिसमैन ने और कुछ नहीं कहा। उसके हटने पर मुसाफिर पहले की अपेक्षा कुछ ज़्यादा आराम से बैठा दिखायी दिया। वास्तव में वह उस जगह इस प्रकार बैठा था मानो टिकट न लेना उसके लिए कोई बात नहीं थी। ठीक जैसे कोई अपने घर में बैठता है, ऐसी ही निश्चिन्तता से वह बैठा था। यह मुझे अच्छा लगा। वह मज़दूर था या कुली था, या पैसा-हीन कोई गरीब आदमी था अथवा कोई उठाईगीर था यह मैं कह नहीं सकता। वह मुझे थोड़ा-थोड़ा इन सब के नज़दीक नज़र आया। इसलिए टिकट के लिए जब पैसा ही नहीं है तो रेल में बिना टिकट यात्रा करने के अधिकार की रक्षा वह क्यों न करे! कोई बिना टिकट रेल में बैठे क्यों? और यदि टिकट के लिए पैसा नहीं,

अथवा इतना पैसा नहीं है कि टिकट जैसी चीज़ में वह ख़र्च किया जाय—क्योंकि आदमी के आख़िर पेट भी तो है—और रेल की यात्रा यदि अनिवार्य हो तो काग़ज़ के उस छोटे से टुकड़े के बिना कोई रह-रह कर घबराये क्यों? आराम से क्यों न बैठे जब कि वह जानता है कि उसके पास पैसे ही नहीं। वह मुसाफिर कुछ ऐसे ही आराम से बैठा था।

सिपाही तब तक बाकी के उन तीन मुसाफिरों के नजदीक था। उनमें से जो एक लड़का-सा था, उसके बिलकुल सिर पर खड़े होकर उसने पूछा—

'तुम कहाँ जा रहे हो?'

'बम्बई—'

'बम्बई जा रहे हो?'

'झाँसी उतरूँगा।'

'अरे कभी कहते हो बम्बई, कभी कहते हो, झाँसी, तुम्हारा कुछ ठीक भी है?'

लड़का चुप रहा।

'सामान कहाँ है?' सिपाही ने कुछ सख्त पड़कर कहा।

'सामान नहीं है।' धीरे से लड़के का जवाब था।

'और टिकट?'

लड़का फिर चुप रहा। सिपाही अब तेज़ी से बोला—'अजी हज़रत, मुझे बेवकूफ तो बनाओ नहीं। पुलिस में पन्द्रह साल नौकरी करते हो गये हैं। तुम जैसे बीसों को मैंने देखा। लखनऊ से कानपुर तक हज़रत

चार डिब्बे बदल चुके हैं। आखिर माजरा क्या है? किसी की जेब काटने का इरादा है क्या?'

लड़का चुप था। वे दोनों मुसाफिर लड़के को देख रहे थे। और मैं भी यह सब देख और सुन रहा था। समझ में आ गया कि नीली कमीज़ वाला यही वह बदमाश है जिस पर नज़र रखने के लिए पुलिसमैन को उसके साथी ने सावधान किया था। उन दो में से एक मुसाफिर ने आखिर कहा—

'अरे भाई माजरा क्या है?'

मैंने देखा कि लड़का उस मुसाफिर की तरफ देखने लगा और सिपाही बोलता गया—

'माजरा क्या है? लखनऊ से कानपुर तक हज़रत ने नाक में दम कर दी। और देखिये न, हुज़ूर किस तरह मुसाफिरों से घिसट कर बैठते हैं। अजी कुछ बोलिये तो, 'आपका टिकट कहाँ है?'

'टिकट नहीं लिया।' उसने संकुचित होकर कहा।

क्यों?

'पैसे नहीं थे।' वैसे ही वह धीरे से बोला।

'पैसे नहीं आपके पास! किसी की जेब नहीं काट पायी अभी तक क्या? क्यों? अजी बोलिये भी तो कुछ!'

'मैं जेबकट नहीं हूँ।'

'हूँ, आप जेबकट नहीं हैं। ज़रूर आप जेबकट नहीं हैं। और हुज़ूर अब तक लखनऊ से कानपुर तक जो चार डिब्बे बदल चुके हैं सो क्यों?'

'टिकट नहीं है, इस वजह से। बिना टिकट मैं कभी चला नहीं।'

'ओ हो! इस मुसाफ़िर के पास भी तो टिकट नहीं है। उस बिना टिकट वाले पहले यात्री की ओर संकेत करके उसने कहा। किस तरह बैठा है, और पूछने पर ठीक बता दिया कि टिकट नहीं है। टिकट नहीं है तो क्या हुआ, कुछ फाँसी थोड़े ही लगती थी। अब अगले स्टेशन पर देखिये, क्या होता है। 'देखिए न साहब!' उस एक मुसाफ़िर को संकेत करके उसने कहा—'किसी की जेब कट जाय तो जुम्मेवार तो मैं हूँगा न? मुझे तो अपनी ड्यूटी बजानी है। मैं साफ़ जानता हूँ कि ये हज़रत जेबकट हैं। इनकी नज़र कह रही है। ये लाख छिपायें, लेकिन छिप थोड़े ही सकता है। अगले स्टेशन पर ही आपको हथकड़ी न पहिनायीं तो मेरा नाम नहीं।'

वह मुसाफिर बोला—'जी हाँ, आप ठीक कहते हैं। ऐसे लोगों पर आप नज़र न रक्खें तो काम कैसे चले। गाड़ी में कोई वारदात हो जावे तो आप जुम्मेवार तो होंगे ही। अजी साहब, ये जेबकट बड़ा ग़ज़ब ढाते हैं। अभी उस दिन अख़बार में पढ़ा कि सेकण्ड क्लास में किसी साहब की जेब कट गयी। जेब में जो माल-मता था, वह तो ग़ायब हो गया, साथ में वह जेबकट हज़रत का टिकट भी लेकर चलता बना।'

'और क्या' सिपाही बोला, 'ये हज़रत भी इसी ताक में हैं। मगर वह तो यह कहिये कि अभी मौका नहीं लगा। अजी हज़रत, आप फिर चुप हैं? मुझे बताइये तो कि हुजूर कहाँ से तशरीफ लाये हैं? कहाँ जाना हो रहा है? आख़िर आपके चेहरे पर ऐसी घबराहट क्यों? किसी की जेब

अभी काटी है या नहीं ? अरे आप बोलते हैं कि नहीं ? या लगाऊँ दो मुक्के, तो यह सारी खामोशी अभी दूर हो जायगी।' और लड़के को पकड़ कर उसने झकझोरा। वह जो मुसाफिर था, बोला 'अरे भाई! ठीक-ठीक क्यों नहीं बता देते ? ढङ्ग से बात करोगे तो ये तुम्हें छोड़ भी देंगे। वरना अगली स्टेशन पर अभी हथकड़ी पड़ने की नौबत आयेगी, तो अच्छा रहेगा ?'

'बाराबङ्की से आ रहा हूँ।' आख़िर वह बोला।

'जा कहाँ रहे हो ?'

'कहीं नहीं।'

'अरे फिर वही बात! अच्छा ज़रा उठ कर खड़े तो हो जाओ। तुम्हारी खानातलाशी ले लूँ। वरना फिर स्टेशन आ रहा है।' और लड़के को पकड़ कर खड़ा कर दिया। जैसे कोई बिलकुल ही शक्ति-हीन पदार्थ हो, इस प्रकार वह सिपाही की बाँह से टँग कर खड़ा हो गया था। और जब खड़ा हो गया तो एक बार उसने उन दोनों मुसाफ़िरों को देखा। फिर बग़ल को गर्दन मोड़ी, फिर थोड़ा सिर घुमाया और उसने मुझे देखा, और मेरी नज़र भी उस पर पड़ी। मैं तो उसे देख ही रहा था। मगर उसने ठीक एक नज़र मुझे देखा होगा कि धीरे से गर्दन सीधी कर ली। फिर भी मैंने उसका पूरा चेहरा देख लिया। बिजली की रोशनी में इकदम सफ़ेद। परेशान। और घबराया हुआ। भली सी नीली कमीज़, भला कोट, चेहरे पर अभी रेख नहीं थी और ऐसा भोला और दयनीय कि अभी मा की गोद से उठ कर आ रहा हो। मालूम देता था जैसे स्वयम् कुछ खो बैठा है।

उसे पीछे की ओर इस प्रकार गर्दन घुमाते देख कर सिपाही बोल उठा, 'देखा, किस प्रकार ऊपर, नीचे, दायें, बायें, चौक चौबन्द आपकी आँखें घूमती हैं।' लड़का बेचारा चुप रहा और सिपाही उसकी जेबों की तलाशी लेने लगा। मुझसे अब चुप नहीं रहा गया। उठकर बैठते हुये मैंने कहा—'अरे भाई, क्यों किसी ग़रीब को तङ्ग करते हो?'

'बाबू जी, आप चुपचाप रहिये। अभी जेब कट जाती तो पता चलता।'

'वह ठीक है। परन्तु तुमने इसे किसी की जेब काटते भी देखा है?'

'देखता तो वहीं हथकड़ी न डाल देता।' और वह तलाशी लेता हुआ लड़के से बोला—'अजी हज़रत जेब छिपाइये मत।'

लड़का इस बार कुछ बल संचय करके बोला—'कहाँ छिपा रहा हूँ। कुल ६ पैसे हैं उसमें। ले लो लेना हो तुम्हें।'

सिपाही ने चुपचाप वे ६ पैसे निकाल कर बाहर कर लिये।

सहसा मैं उठ बैठा, और सामने की बेंच की टिकने की जो दीवार थी, दोनों हाथों से उसका सहारा लेकर और थोड़ा सिपाही के प्रति अग्रसर हो कर मैंने किंचित उत्तेजित होकर कहा—तुम यह कर क्या रहे हो? किसी मुसाफिर को इस प्रकार तङ्ग करने का तुम्हें हक़ क्या? और तुम्हें कैसे पता कि यह जेबकट है? व्यर्थ बेचारे को परेशान कर रहे हो। उसके पैसे दे दो और उससे ठीक ढङ्ग से बात करो तो वह तुम्हें कुछ बताये भी कि कहाँ से आया है, कहाँ जायेगा। और फिर मैंने लड़के का हाथ पकड़ कर कहा—'यहाँ आओ जी मेरे पास।'

सिपाही बोला—'हाँ लीजिये ये पैसे। आप इतने गरम क्यों हो रहे हैं ? मैं शर्त लगाने को तैयार हूँ अगर यह लड़का जेबकट न हो।' और उसने पैसे लड़के की जेब में डाल दिये। और फिर कहता गया—'जनाब अभी आपको दुनिया का तजुर्बा नहीं है। लीजिये, मैं यहाँ बैठा हूँ और आप इससे बात कीजिये। देखूँ आपसे क्या कहता है।' कह कर वह एक तरफ हो गया, और मैंने लड़के का हाथ पकड़ा। लाकर उसे बेंच पर अपने पास बिठाला। मेरे पास वह इस प्रकार दबक कर बैठ गया जैसे कोई घबरायी हुई चिड़िया अपने घोंसले में आकर बैठती है।

मैंने उसकी पीठ पर हाथ रख कर कहा, 'देखो मुझे सच बताना। उसने सिर हिलाया कि हाँ वह सच बोलेगा ?'

'तुम कहाँ से आ रहे हो ?'

'बाराबंकी से।'

'घर से भाग कर आये हो ?'

'हाँ।'

'ऐसा क्यों ? तुम्हारी मा होगी, पिता होंगे। फिर घर से भागने की वजह ?'

'मेरी मा हैं। परन्तु वह पिता के दूसरे विवाह की हैं। मैं छोटा था तभी मेरी मा नहीं रहीं। ये जो मा हैं, मुझे बिलकुल प्यार नहीं करतीं। रोज़ मुझसे लड़ती और भला-बुरा कहती हैं। कभी समय से भोजन नहीं देतीं। और अभी मैं इम्तिहान में फेल होगया तो मेरी आफ़त ही कर दी। घर में रहना मुश्किल कर दिया। परसों की बात है कि मैं बाहर से

खेल कर आया। भूख लग रही थी। मैंने खाने को माँगा, तो एकदम गुस्सा होकर बोलीं—बहुत कमाकर तो लाता है जो हर वक्त मैं तेरे लिए रसोई तैयार रक्खूँ। खा-खा कर सत्यानाश किया है। न कुछ करना, न धरना। चला जा यहाँ से। अभी कुछ खाने को नहीं है। जब रोटी बनेगी तब मिलेगी। मुझे उनकी यह बात इतनी बुरी लगी कि मैं चुप-चाप घर से बाहर निकल आया और सीधा स्टेशन पहुँचा। उस वक्त लखनऊ की गाड़ी खड़ी थी, उसी में जाकर बैठ गया। जेब में कुल तीन आने पैसे थे।'

'आज और कल लखनऊ रहा। उसके बाद जब कहीं ठिकाना नहीं दीखा तो अभी इस गाड़ी में आकर बैठ गया। मेरा एक मित्र है। झाँसी में उसका घर है। उसके बाप रेलवे में काम करते हैं। शायद वहाँ कुछ काम मिल जाय इसी ख़याल से झाँसी जा रहा हूँ।'

लड़का कहते-कहते चुप हो गया और नीचे देखने लगा। मैं पहले ही इसी प्रकार की किसी बात का सन्देह उस लड़के के सम्बन्ध में कर रहा था। अतएव उसकी बात से मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। और उसने जो कुछ कहा, उस पर अविश्वास का कोई कारण भी मेरी समझ में नहीं आया। बेचारा घर से ठीक ही आया। मैंने उसे आश्वस्त करते हुए आख़िर कहा—'यह तो ठीक है कि तुम्हारी मा तुम्हें प्यार नहीं करतीं। परन्तु तुम्हारे पिता तुम्हारे लिए कितने परेशान होंगे। और फिर मा भी तुम्हारी कम परेशान नहीं होंगी जब तुम्हारा पता वहाँ नहीं चलेगा। परन्तु अब फ़िक्र मत करो। आराम से इस बेंच पर सो जाओ।

किसी एक स्टेशन पर जब ट्रेन कुछ झटके के साथ रुकी तो मेरी आँख खुली। खिड़की के बाहर देखा तो पूर्व की ओर आकाश कुछ स्वच्छ हो चला था। उस वक्त चार बजे थे। लड़के को देखा। वह अब भी गाढ़ी नींद सो रहा था। वे दो मुसाफ़िर भी खुर्राटे ले रहे थे। सिपाही नहीं था और बिना टिकट जो शख़्स बैठा था वह भी नहीं था। जब बेंच के नीचे मैंने नज़र डाली तो वहाँ मेरा बक्स नहीं था और चमड़े का छोटा वह अटेची भी नहीं था। मैंने उस लड़के को देखा, जो बेख़बर सो रहा था। उन मुसाफ़िरों को देखा, जो गाढ़ निद्रा में निमग्न थे। बेंच के उस कोने को देखा जहाँ वह मुसाफ़िर अब नहीं था। और अपने बक्स और अटेची को दुबारा नीचे-ऊपर अच्छी तरह देखा जो वहाँ से अब ग़ायब थे। कालपी की स्टेशन पर जब वह बिना टिकट वाला शख़्श उतरा, तो उन चीज़ों को ज़रूर अपनी समझ कर हथियाये लेता गया और सिपाही ज़रूर उस वक्त किसी डिब्बे में सो गया।

वेश्या का हृदय

गुलशन का आलिंगन करते हुए रामकिशोर ने कहा, 'प्यारी गुलशन ! तुम्हें पता नहीं कि मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ। हृदय यदि चीरा जा सकता तो तुम देखतीं कि रुधिर के प्रत्येक परमाणु मे तुम्हारा अस्तित्व है और उस अस्तित्व के कारण ही ख़ून के हरेक क़तरे में गरमी है। देखो, आज मैं तुम्हारे लिए कितनी अच्छी चीज़ लाया हूँ।' यह कह कर उन्होंने अपनी जेब से एक अँगूठी निकाली।

गुलशन ने अपना एक हाथ उनके कन्धे पर से उठाते हुए कहा, 'देखूँ क्या है ?'

'देखने की चीज़ नहीं है।' कहते हुए उन्होंने गुलशन का वह हाथ थामा और एक उँगली में उस अँगूठी को पहिना दिया। बिजली के प्रकाश में अँगूठी का नन्हा-सा नग ओस की बूँद की तरह झिलमिला उठा और साथ ही उस हीरे को देख कर गुलशन की आँखें चमक उठीं।

'अच्छा, अपने प्रेम का परिचय देने के लिए आज आप यह अँगूठी लाये हैं। किन्तु रहने दो, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं।'

'तुम तो ज़रा-ज़रा सी बात में रूठ जाती हो। मेरा प्रेम इतना छिछला नहीं कि एक छोटी-सी अँगूठी से उसकी माप की जाय। नग की आभा से तुम्हारी शोभा बढ़ती है या तुम्हारे सौन्दर्य की दीप्ति से नग की चमक, यही देखने के लिए मैं इस अँगूठी को लाया हूँ।'

गुलशन ने अपने लोल लोचनों से उनकी ओर देखते हुए कहा, 'मैं ऐसी ख़ूबसूरत कब से हो गयी हूँ ?'

'जब से तुमने विश्व के आँगन में आकर प्रकृति के सौन्दर्य को अपने में मिलाना शुरू कर दिया।'

उनकी यह बात सुन कर गुलशन हँस दी और बोली, 'आज तक मैंने जो कुछ पाया है, वह अपने सौन्दर्य को बेच कर। गाहक मेरे दरवाज़े पर आते और मैं अपने सोने के घड़े से उन्हें थोड़ी-सी रूप-माधुरी पिला देती। अचानक एक दिन मुझे तुम मिले। सोचा, प्रेम के बदले में कुछ न लेकर भी प्रेम दिया जा सकता है या नहीं। इतने दिनों में यह बात सोचती थी कि आज तुमने यह अँगूठी लाकर दी। यह तुम्हारी दी हुई चीज़ है, इसलिए मैं लिये लेती हूँ। किन्तु अब कभी ऐसी कोई चीज़ न लाना।'

'आह ! गुलशन मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ !' कह कर रामकिशोर ने छवि से लबालब प्याले को अपने ओंठों से छुआ और एक घूँट पी लिया।

गुलशन ने अँगूठी की ओर देखते हुए कहा, 'तुम्हें यह अँगूठी मिली कहाँ से ?'

'तुम्हें इससे क्या करना है। मेरी है।'

'मैंने आज तक तो तुम्हारे पास देखी नहीं।'

'गुलशन! मैं तुम्हारे लिए क्या नहीं कर सकता हूँ? तुम्हारे चेहरे पर सन्तोष की झलक और होंठों पर हँसी की रेखा देखने के लिए मैं अपनी जान तक दे सकता हूँ। यह अँगूठी तो एक ज़रा-सी चीज़ है।'

'नहीं, ठीक बताओ यह अँगूठी तुमने कहाँ से पायी है।'

'एक दिन मैं बैठक में होकर घर से बाहर जा रहा था। मैंने देखा तिजौरी खुली पड़ी है और पिता जी बाहर किसी से बातें कर रहे हैं। उसके एक घर में कई अँगूठियाँ रक्खी हुई थीं। अचानक मुझे तुम्हारी याद आयी और साथ ही याद आयी तुम्हें एक अँगूठी देने की बात। मैंने इधर-उधर देखा। कोई नहीं था। कई अँगूठियों में से एक का खोजना ज़्यादा सन्देह पैदा नहीं करेगा और फिर दस-पचास रुपये की अँगूठी के लिए कोई ज़्यादा छान-बीन भी न करेगा। मैंने उनमें से एक अँगूठी निकाल ली। उस समय मैंने यह भी न देखा कि यह अँगूठी कैसी है। किन्तु इस समय देख रहा हूँ यह तुम्हारे लायक़ है।'

गुलशन ने रामकिशोर की यह बात एक ही साँस में सुनी और साँस छोड़ते हुए अपने मनमें बोली, 'ओ! भोले बच्चे!' फिर रामकिशोर से कहा, 'यह अँगूठी दस-पचास रुपये की नहीं है। इसका नग कई हज़ार रुपये का है। चोरी का पता लगते ही तुम्हारे पिता पागल हो जाएँगे और न जाने अपने कितने कारिन्दों को जेल में दे दें। तुम इस अँगूठी को वहीं रख आओ।'

गुलशन की बात सुन कर रामकिशोर इस फेर में पड़ गये कि मैंने यह बात इससे क्यों कह दी। फिर बोले, 'तुम यह अँगूठी अपने ही पास रक्खो। किसी को क्या मालूम कि कौन ले गया है।'

'नहीं मैं अभी इतनी बुरी नहीं हो गयी हूँ कि तुम्हें ऐसा बुरा काम करते हुए देखूँ। किन्तु, हाँ, तुम इस अँगूठी को अपने ठीक स्थान पर कैसे पहुँचाओगे ?'

रामकिशोर ने अभी यह बात सोची भी न थी और गुलशन की बात सुनकर उन्हें पता चला कि वह अँगूठी न लेगी। कुछ चिन्तित शब्दों में उन्होंने कहा, 'हाँ, यही तो कठिनाई है। तुम अब इसको अपने ही पास रक्खे रहो।'

'नहीं सो नहीं होगा।'

'अच्छा, मुझे दे दो।'

गुलशन ने अँगूठी उतार कर अपने हाथ में ली और फिर रामकिशोर की ओर देखा। उनके चेहरे पर उसे किसी कमज़ोरी की छाया दिखायी दी और साथ ही कोई विचार बिजली की चमक की तरह उसके मन में आया। उसने दृढ़तापूर्वक कहा, 'नहीं यह अँगूठी मैं तुम्हें भी न दूँगी।'

रामकिशोर सुन्न हो गये। चेहरे की गम्भीरता जाती रही। गुलशन के दोनों हाथ थाम कर बोले, 'ऐसा न करना। अपमान और लांछना के बोझ से मैं दब जाऊँगा। क्या तुम इस अँगूठी को मेरे पिता को बताओगी ? क्या मेरे ऊपर यही तुम्हारा प्यार है ? लाओ, यह अँगूठी मुझे दे दो। मैं इसे कहीं फेंक दूँगा।'

गुलशन बोली, 'छिः ! तुम अभी निरे बच्चे हो।'

(२)

सामने तिजोरी खुली पड़ी थी और सेठ हीरालाल पागलों की तरह उसकी प्रत्येक चीज़ को निकाल-निकाल कर बाहर फेंक रहे थे। तिजोरी के सब घर देख डाले। उनमें रक्खी हुई हरेक थैली खोल देखी, तबभी अँगूठी नहीं मिली। वे परेशान थे कि उसको हवा खा गयी या जिन्न ले गये। उस अँगूठी को कोठी में आये अभी दस दिन भी तो नहीं हुए थे। फिर गयी कहाँ? दूकान के सब गद्दी-तकिये उलट डाले। फर्श भी उठाया गया। शायद भूल से किसी ताक में रख दी हो! उनमें रक्खे हुए बहीखाते बाहर फेंक दिये। बाहर रक्खी हुई किसी सन्दूक में रख दी हो? उन्हें भी खोल डाला। किन्तु अँगूठी का पता नहीं। सेठजी जितना ही उसे ढूँढ़ते थे, उतनी ही उनकी उत्कंठा बढ़ती जाती थी। क्रोध के मारे वे दाँत पीस रहे थे और परेशानी के कारण उनके माथे पर पसीना झलक रहा था। 'बैठे ठाले, पाँच हज़ार की ठोकर लगी, और फिर वह भी अपनी चीज़ नहीं। कौन ले गया होगा? सिर्फ़ बड़े मुनीम को उसका पता था। क्या मालूम बाहर रक्खी हो और किसी के हाथ पड़ गयी हो। मुनीम से पूछूँ? लेकिन वह काहे को बतायेगा? सब को पुलिस में दे दूँ? यही ठीक होगा। लेकिन अँगूठी गयी कहाँ? हाँ, यही तो मैं भी कह रहा हूँ। तिजोरी बन्द रहती है। उस दिन मैंने अपने ही हाथों से उसको एक डिबिया में रक्खा था। कहीं भीतर तो नहीं पहुँच गयी?'

कोठी की हर एक चीज़ बिखरी पड़ी थी और सेठजी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। यह सब देख मुनीमों का माथा ठनका। 'ज़रूर

कुछ दाल में काला है।' किन्तु किसी को उनसे कुछ पूछने की हिम्मत न हुई।

सेठजी तिजौरी के हर एक ख़ाने को और सामने रक्खी हुई हर एक डिबिया को चौथी बार खोल-खोल कर देख रहे थे कि नौकर ने आकर कहा, 'सेठजी, आपसे एक स्त्री मिलना चाहती है।'

'देखता नहीं, अभी काम कर रहा हूँ।'

'लेकिन वह कहती है कि बड़ा ज़रूरी काम है। पोशाक और पहिनावे से किसी बड़े घर की जान पड़ती है। इसीलिए मैं ख़बर देने चला आया। सेठजी ने यह सोच कर कि कोई स्त्री गहने वगैरह खरीदने आयी होगी, उस नौकर से कहा, 'उसे यहीं भेज दो।'

उसके चले जाने पर सेठजी फिर अपनी उधेड़-बुन में लग गये। 'लेकिन अँगूठी यहाँ से कहीं जा नहीं सकती। यहीं होगी! एक बार फिर देख लूँ।' अचानक उन्हें पीछे से किसी के पैरों की आहट और आभूषणों की झनकार सुनायी दी। उन्होंने पीछे मुड़ कर देखा, सामने शहर की प्रसिद्ध वेश्या गुलशन चली आ रही है। सेठजी उसे भली भाँति जानते थे। कई बार उसके पास से उनकी दूकान पर गहनों की फरमाइश आयी है, किन्तु आज वह स्वयम् उनकी दूकान पर क्यों? वह तो कभी धरती पर सीधी तरह से पैर भी नहीं रखती। सेठजी आ खड़े हुए और बोले, 'आइये बी साहब! आज आपने कैसी तकलीफ़ की?'

'आपसे एक काम है।'

'फरमाइये।'

'मैं थोड़ा-सा एकान्त चाहती हूँ।'

'आप जो कुछ कहना चाहती हों बड़े मज़े में कह सकती हैं।'

'अच्छा' कह कर गुलशन ने कपड़ों के भीतर से एक अँगूठी निकाल कर कहा, 'देखिये यह आपकी तो नहीं है?'

सेठजी बोल उठे, 'यह तो मेरी अँगूठी है। आपको कहाँ से मिली?'

सेठजी अपनी आँखों पर विश्वास न कर सके। उन्होंने अँगूठी को गुलशन के हाथ से ले लिया। हीरे की उस चमक और आब को वे भूल नहीं सकते थे। उन्होंने उसको भली भाँति देखते हुए कहा, 'आपको यह कहाँ से मिली?'

'मुझसे यह न पूछिये। यदि आपको मुझ पर शक है तो मुझे जेल भेज दीजिये! मेरे पास यह अँगूठी किस प्रकार आ सकती है, यह आप स्वयम् सोच सकते हैं। मेरे हाथों से इस प्रकार की न जाने कितनी अँगूठियाँ गुज़री होंगी। मैं देखते ही समझ गयी कि यह बेशक़ीमती चीज़ है। इस बात को आप न पूछिये कि मुझे यह पता कैसे चला कि यह अँगूठी आपकी है। मैंने सोचा, एक दूसरे आदमी की ग़लती से कई बेगुनाह जेल में भरे जाँयगे। मैंने आप की चीज़ आप को दे दी। अब जो इच्छा हो सो कीजिये।'

'किन्तु जिसने आपको यह अँगूठी दी है, क्या आप उसका नाम न बतायेंगी?'

'नहीं। मुजरिम मैं हूँ। यदि आप किसी तरह की कारवाई करना चाहते हों तो शौक से कीजिये।'

'आप जानती हैं, यह कितनी बेशक़ीमती चीज़ है। तब भी आप ख़ुशी से घर जाइये। कोई डर की बात नहीं!'

'यह आपकी कृपा है', यह कह कर गुलशन मन ही मन मुस्करा दी और चल दी। अँगूठी अभी सेठजी के हाथ में थी। उन्हें विश्वास नहीं था कमरे की चीज़ों पर, उन्हें विश्वास नहीं था अपने आप पर और उन्हें विश्वास नहीं था क्षण भर पहिले की घटना पर! मानो स्वप्न देखा है। अँगूठी को वे बार-बार देख रहे थे कि अँगूठी ही है या और कोई चीज़। सन्तोष की एक हलकी-सी साँस छोड़ते हुए उन्होंने कहा, 'बुरी औरत भी इतनी ईमानदार हो सकती है, मुझे मालूम नहीं था।'

उसकी प्रतिहिंसा

कुछ वस्तुए होती हैं, जिनकी स्मृति मन में सदैव के लिए अपना घर कर लेती हैं। मोती ऐसी ही वस्तु था। उसे मैं जीवन में कभी भूल नहीं सकता। उसके बिना मेरा घर सूना हो गया है, और उसे खोकर मेरे मुन्नी ने तो मानो सब कुछ खो दिया है। वह मुन्नी का सखा था, सेवक था, सहचर था, प्रहरी था, और सबसे बड़ी बात, वह उसका खिलौना था। मोती उसके पास हो, तो फिर उसे कुछ नहीं चाहिए। उस बालक की सारी कामनाएँ मानो एक मोती में ही केन्द्रित थीं। उसके बिना अब उसे कुछ नहीं सुहाता। हमेशा उसी के लिए रोया करता है। परन्तु मोती ऐसा हठी है कि उस बच्चे की कातर वाणी सुनकर भी वह उस पर दया नहीं करता, दौड़कर तुरन्त उसके समीप नहीं आता। बेचारे मुन्नी को मोती के इस अनहोने, अप्रत्याशित व्यवहार पर आश्चर्य तो क्या होगा! बार-बार बुलाकर भी जब वह उसे बुलाने में विफल-मनोरथ होता है, तब और भी ज़ोर से रो उठता है। उस समय वह मा की दी हुई मीठी-से-मीठी वस्तु का भी तिरस्कार करता है, और किसी प्रकार भी चुप नहीं होता।

मुझे जो दुःख है, सो मैं ही जानता हूँ । यह मुन्नी जब हुआ, तभी पिताजी उसे कहीं से लाये थे। मुन्नी के साथ ही वह खेला और उसके साथ ही वह बड़ा हुआ। बहुत सुन्दर था। जो देखता, वही उसे प्यार करता था। नेत्रों में असीम विश्वास, व्यवहार बहुत ही स्नेह-पूर्ण, प्रकृति का भारी चंचल, पर कुछ क्रोधी और हठी भी। यही दोष ही उसकी मृत्यु का कारण हुआ। बहुत दवा-दारू की, सब व्यर्थ। चोट बहुत गहरी थी। चट्टान काफ़ी ऊँचे से गिरी थी। मुझे तो यही आश्चर्य है कि उस चट्टान को खिसकाकर वह छत के किनारे ला कैसे सका ! पर बन्दर में एक तो वैसे ही बहुत ताक़त होती है, दूसरे प्रतिहिंसा उसके पीछे थी। जो न कर डालता, थोड़ा था। चट्टान मोती के सिर पर ही गिरी, जिसकी वजह से उसका सिर एक बार ही कुचल गया था। पड़ोस में वैद्य हैं। रसों के बल से अनेक रोगियों को उन्होंने मौत के मुँह से छीना है, पर मोती के मामले में वे कुछ नहीं कर सके। दही

लेप ने कुछ लाभ नहीं पहुँचाया। डॉक्टर भी आया था। उनके पास ब्रांडी ही ऐसी चीज़ थी, जो मोती की रक्षा कर सकती थी। रात-भर तो उसके नशे में मोती बेहोश पड़ा रहा। उससे लाभ हुआ, तो यही कि बेचारे की वेदना कम हो गयी। सवेरे बड़े कष्ट में उसके प्राण निकले। उसकी मृत्यु-समय की यंत्रणा के स्मरण से मुझे अब भी रोमांच हो आता है। जब उसका आख़ीर वक़्त आया, और वह बिलकुल निस्पन्द और शिथिल हो गया, तब मैं मुन्नी को गोद में लेकर दूर हट गया। उसी समय वह एक बार फिर छटपटाया। यह मृत्यु से बचने

का मानो अन्तिम प्रयास था। उसके बाद दो-एक हलकी-सी हिचकी के साथ उसकी दम टूट गयी। वह मर गया—उसी जगह, जहाँ कल तक जाड़े की सुनहली धूप में बैठकर वह अपने को गरमाया करता था, जहाँ मुन्नी उसके साथ खेलता, किलोलें करता और प्रेमपूर्वक उसे अपने हिस्से की जलेबी और कभी-कभी बिस्कुट खिलाया करता था। मुन्नी कुछ नहीं समझा। वह मेरी गोद से उतरकर मोती को बिस्कुट देना चाहता था। पर क्या वह उठ बैठता?

मोती का कोई भी चिह्न मैंने अपने घर में नहीं रक्खा। परन्तु उन स्थानों को तो मैं दूर नहीं कर सकता, जहाँ उसकी तिल-तिल पर छाप लगी है। जहाँ वह जाड़े में धूप लेता था, जहाँ वह ग्रीष्म में शीतल बालू पर लेटता था, जहाँ वह अपना भोजन करता था, और जहाँ मुन्नी उसे लेकर घर-भर में धूम मचाता था। इन सब जगहों को मैं क्या करूँ? क्या निकालकर फेंक दूँ? और मोती की उस अशरीरी छाया का क्या करूँ, जो मेरे घर के प्रत्येक कोने में, मेरे आँगन के प्रत्येक उन्मुक्त स्थान में, और मेरे निवास-स्थान में, क्रीड़ा करनेवाली पवन के प्रत्येक कण में मुझे दिखायी देती है, मुझसे बात करती है, और मानो अपनी शोचनीय मृत्यु के लिए मुझे उत्तरदायी बनाती है? अपराध मेरा ही था। नौकर नहीं आया था, तो मैं उसे छत पर ले क्यों गया? क्या मैं जानता नहीं था कि उसकी भयानक प्रतिहिंसा मोती का काल बनकर निरन्तर मेरे घर का चक्कर लगाया करती है?

क्या कहा ? उसे गोली मार देता ? शिव-शिव ! उसने तो अपने साथी की मृत्यु का बदला लिया। पशु को यदि इतनी स्वतन्त्रता न मिले, तो वह आदमी ही न बन जाय ! बदला लिये बिना यदि उसकी मौत हो जाती, तो सौ जन्म में भी उसकी सन्तप्त आत्मा को शान्ति न मिलती। उसने ठीक ही किया। यह ठीक करके यद्यपि उसने मेरे जीवन की एक अत्यन्त प्रिय वस्तु का अपहरण किया है, फिर भी मैं उससे कुछ कह नहीं सकता। उस पर अप्रसन्न नहीं हो सकता। उसे किसी प्रकार का दोष नहीं दे सकता। इतनी भारी क्षति यदि किसी और ने की होती, तो मैं न-जाने क्या कर डालता, अथवा कुछ भी न करता। पर उसके दुःख को मैं जानता हूँ। अपने साथी के वियोग में वह दिन पर-दिन दुबला होता जाता था। प्रतिहिंसा की आग उसके शरीर को भूने डाल रही थी। अतएव इस समय यदि वह मेरी छत पर आवे, तो मैं उससे कहूँगा—'भाई, तुम पशुत्व से ऊपर और मनुष्यत्व के निकट होते, तो मैं तुमसे पूछता, क्या मिल गया तुम्हें मोती को मारने से ?—शान्ति ? झूठी बात है। पर तुम निरे पशु ही हो। अतएव मोती को मारने से यदि तुम्हारे देवता प्रसन्न हुए हों, और तुम अपने साथी की मृत्यु का दुःख भूल गये हो, तो मैं सुखी हूँ। मोती का अपराध मेरा अपराध था। तुम्हारे कृत्य से यदि वह पाप-मुक्त हुआ है, तो यह बात नहीं कि मेरी आत्मा को शान्ति न मिले।'

× × × ×

पुरस्कार

दिन चढ़ आया था। सूर्य की उज्ज्वल किरणें गली में चारों ओर फैलती जा रही थीं। मुन्नी बाहर खेल रहा था। मा ने उसे दो बिस्कुट दिये थे। जिनमें से एक धूल में न-जाने कहाँ गिर गया। मुन्नी को उसकी चिन्ता नहीं हुई। बात यह है कि मीठे बिस्कुट उसे पसन्द नहीं। नमकीन थे नहीं। हाथ में जो बिस्कुट था, उसे विमन-भाव से चूसता, और वायु में उड़ते हुए पक्षियों के पीछे स्वच्छन्द भाव से इधर-उधर दौड़ रहा था। सामने चबूतरे पर उसका सहचर मोती बैठा था। दोनों पैरों के बीच में मस्तक रखकर चुपचाप धूप ले रहा था। गली में दो-तीन कुत्ते थे, जो मोती पर रह-रहकर भूँक रहे थे। परन्तु मोती को इसकी परवा नहीं थी। वह अकारण कभी चंचलता प्रकट नहीं करता था, और ख़ासकर ऐसे मौक़े पर जब कि उसका छोटा स्वामी हाथ में बिस्कुट लेकर उसे खाने को दे रहा था। मोती लोभी अवश्य था। उसे आप मिठाई दीजिये, तो वह अपनी पूँछ हिलाकर, सकृतज्ञ नेत्रों से आपकी ओर देखकर तुरन्त आपको धन्यवाद देगा। परन्तु अपने छोटे स्वामी के हाथ से बलपूर्वक किसी वस्तु को छीनकर खाने का उसे अभ्यास नहीं था। इस विषय में वह मुन्नी के अन्य साथियों की अपेक्षा कहीं अधिक शिष्ट और संयमशील था। अतएव मुन्नी ने जब हाथ आगे बढ़ाकर कहा—'मोती, लो।' तब वह केवल अपने स्थान पर उठकर खड़ा हो गया, और कदाचित् विचार करने लगा, क्या यह बिस्कुट सचमुच उसके लिए ही है? परन्तु उसे अधिक देर तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। मुन्नी ने बिस्कुट फेंका, और मोती

ने लपककर उसे ले लिया। बिस्कुट के उस छोटे टुकड़े ने मोती के मुँह को एक प्रकार के अपूर्व मीठे रस से प्लावित कर दिया। जीभ बाहर निकालकर अपना मुँह चाटने और लुब्ध दृष्टि से मुन्नी की ओर देखने लगा। मुन्नी के पास अब बिस्कुट नहीं था। पर मोती को उसकी ओर से निराश होना पड़े, यह भी तो अच्छी बात नहीं थी। सहसा उसे स्मरण हुआ कि मा ने दो बिस्कुट दिये थे। तब दूसरा क्या हुआ? कहीं गिर गया? तो फिर उसकी तलाश होनी चाहिए, और तुरन्त मोती को आश्वासन देकर वह अपना बिस्कुट ढूँढ़ने में व्यस्त हो गया। मोती अपने स्वामी का मनोभाव समझा अथवा नहीं, कहना कठिन है। पर उसे इतना अवश्य अवगत हो गया कि उसके स्वामी के निकट अब दूसरा बिस्कुट नहीं है। तब गली में जो कुत्ते घूम रहे थे, उन पर दो-एक बार भूँककर वह अपने स्थान पर बैठ गया। और कोई काम न देखकर अपने पंजे चाटने और सामने जो पतंगे उड़ रहे थे, जब-तब क्षिप्त भाव से उन पर लपकने लगा। इस विनोद से भी जब उसका मन ऊब उठा, तब पुनः अपने दोनों पैरों पर सिर रखकर पूर्ववत् लेट गया, और धूप में गरमाकर ऊँघने-सा लगा।

मुन्नी तो अभी बिस्कुट ढूँढ़ने में ही लगा था। जान पड़ता था, वह उसे ढूँढ़कर ही रहेगा। बालक स्वभाव से ही हठी होते हैं। उनकी यह हठ बुरी नहीं होती। मुन्नी को आख़िर बिस्कुट नज़र आ गया। उसके सामने ही धूल में पड़ा था। उत्फुल्ल होकर उसे उठाने को झुका ही था कि सामने छत की मुँडेर पर जो बन्दर बैठा था, वह

एक ही छलांग में नीचे आकर बिस्कुट छीनने के अभिप्राय से उसके हाथ पर टूट पड़ा। मुन्नी के मुँह से एक भय-सूचक आवाज़ निकली। साथ ही मोती उछला, और बन्दर पर आ गिरा। यह सब काण्ड पल-भर के भीतर हो गया। मुन्नी त्रस्त-व्यस्त भीतर को भागा। वह बन्दर तेज़ और फुर्तीला ज़रूर था, जैसे कि बन्दर होते हैं, पर मोती के आकस्मिक आक्रमण से बिलकुल ही घबरा गया। मोती का यह व्यवहार कुछ अप्रत्याशित भी था। बन्दर कुछ नया नहीं था। वह अपने एक और साथी बन्दर के साथ नित्य ही नगर की परिक्रमा के लिए बाहर निकलता था। यहाँ यही दो बन्दर थे। एक तो ख़ूब हृष्ट-पुष्ट और विशालकाय, एवम् दूसरा कुछ कमज़ोर और रोगी-सा। कमज़ोर बन्दर ने ही आज मोती की उपस्थिति की अवहेला करके सहसा मुन्नी के बिस्कुट पर आक्रमण कर दिया। उसकी कदाचित् यह धारणा थी कि मोती ऊँघ रहा है। पर वास्तव में बन्दर पर ठीक उसी समय उसकी दृष्टि पड़ गयी थी, जब वह चुपचाप नीचे उतरकर मुन्नी पर झपटने का प्रयत्न कर रहा था। हाँ, मोती ने यही समझा कि बन्दर उसके स्वामी पर ही झपट रहा है। एक ऐसी बात जिसकी कल्पना भी उसके लिए असह्य थी! भयानक वेग से क्रुद्ध चीते की भाँति वह उस बन्दर पर झपटा। बन्दर उसकी दबोच में आ गया, पर दूसरे क्षण बाहर भी हो गया। मोती खिसियाकर फिर झपटा। बन्दर ने छलाँग मारनी चाही, पर न-जाने कहाँ से गली का एक कुत्ता उसके सामने आ गया। क्षण-भर के लिए उसकी सिट्टी भूल गयी। बस, मोती ने उसे फिर ले

लिया। तब तक दो-तीन कुत्ते भूँकते हुए और दौड़े। पेड़ों पर ही निवास करनेवाले इस जन्तु को पृथ्वी पर उतरते देखकर उनका रुधिर उत्तप्त हो उठा था। अथवा वह अपने साथी और सजातीय की सहायता करना चाहते थे।

बन्दर चारों ओर से घिर गया। निकलना कठिन हो गया। जिधर जाता, कुत्ते यमदूत की तरह मुँह फाड़े उस पर टूट पड़ने को तैयार थे। मोती किसी तरह भी शान्त नहीं हो रहा था। अनादि काल से उसके भीतर जो भेड़िया सो रहा था, वह मानो आज अपनी सम्पूर्ण भीषणता के साथ जाग उठा था। भेड़िये ने कुत्ते को दबा लिया था। वह बार-बार निर्मम भाव से उस ग़रीब बन्दर की गर्दन लथेड़ने लगा। कुत्तों का चीत्कार सुनकर मुहल्ले की तमाम औरतें और बालक बाहर दरवाज़ों पर खड़े हो गये। मुन्नी भय से इतना किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया था कि वह अपनी मा से स्पष्ट कुछ भी न कह सका। उस समय वह रसोई-घर में थीं। क्या हुआ है, यह देखने के लिए जितने शीघ्र हो सका, चूल्हे पर चढ़ी हुई तरकारी को नीचे उतारकर वह बाहर आयीं। देखा तो, हत बुद्धि-सी होकर रह गयीं। कमबख़्त मोती क्या कर रहा है? इसे आज क्या हो गया है। 'मोती! ओ मोती!!' हताहत और निर्जीवप्राय बन्दर को धूल में घसीटते छोड़कर मोती छलांगें भरता हुआ पल-भर में अपनी स्वामिनी के पैरों पर आ गिरा। युद्ध में उसने अपने शत्रु को पराजित किया है, इस भारी विजय के लिए मानो वह अपनी स्वामिनी से शाबाशी चाहता था।

तभी तो ख़ुशी से उसकी आँखें नाच रही थीं, और पूँछ किसी तरह स्थिर रहना ही नहीं चाहती थी।

'क्या किया है तूने यह? उस बन्दर को क्यों मारा?' और मुन्नी की मा मोती के ऊपर उठे हुए मस्तक पर अपना कर स्पर्श किये बिना ही पीछे हट गयीं। मोती सहम गया। स्वामिनी की वक्र दृष्टि और स्वर की कठोरता देखकर स्पष्ट समझ गया कि उसने अन्याय किया है। अपराधी की भाँति भयभीत दृष्टि से चुप होकर ऊपर देखता रहा। स्वामिनी क्रुद्ध भाव से उसे देख रही थीं। उन्होंने कठोर बनकर फिर कहा—'तूने यह क्या किया है?' इस बार उनके स्वर में क्रोध ही क्रोध नहीं था, प्रेम-मिश्रित भर्त्सना भी थी। मोती यह सब जान लेता था। भय की दीवार कुछ हट गयी थी। तुरन्त पास जाकर धीमे-धीमे शब्द करके, पूँछ हिला, कातर दृष्टि से, स्वामिनी के मुख की ओर देखता हुआ, पैरों पर मस्तक रगड़कर क्षमा माँगने लगा। फिर भी क्षमा नहीं! स्वामिनी ने उसके मस्तक पर हाथ नहीं रक्खा, जिसका आशय यह था कि वह वास्तव में बहुत अप्रसन्न हैं। पर असल में वह कुछ चिन्तित हो उठी थीं। उनका ध्यान उस बन्दर की ओर था। इस समय वह धूल में पड़ा सिसक रहा था। कुत्ते भाग गये थे। मुहल्ले के कुछ लड़के घेरे खड़े थे। पास जाकर देखा। कुत्तों ने उसे बुरी तरह घायल किया था। शायद ही बचे। घड़ी-दो-घड़ी का मेहमान था। उसे मरते देखकर मुन्नी की मा की आँखें सजल हो आयीं।

'ये दो बन्दर ऊधम ज़रूर करते थे, पर किसी का कुछ नुक़सान तो नहीं करते थे। इसके साथी को कितना रंज होगा। अभी तक दो थे, अब वह अकेला रह जायगा। यह अकेली ज़िन्दगी उस बेचारे के लिए कितनी असह्य होगी। पर वह आज गया कहाँ? रोज़ तो ये दोनों साथ ही बाहर निकलते थे।' तभी ऊपर नज़र पड़ी। देखा, जहाँ वह निर्जीवप्राय बन्दर पड़ा है, ठीक उसके ऊपर, एक मकान की छत पर दूसरा बन्दर अपने दो पैरों के बल बैठा ज़मीन की ओर घूर रहा है। उसकी दृष्टि स्थिर है और देह निस्पन्द। मानो किसी ने पत्थर का बन्दर बनाकर छत के कोने पर बिठाल दिया हो। यह क्रोध नहीं हो सकता, जिससे आक्रान्त होकर वह इस प्रकार गुमसुम बना बैठा है। यह निस्सन्देह मोती के हाथ से अपने साथी की रक्षा न कर पाने का मानसिक सन्ताप और उसकी आगत मृत्यु का गम्भीर शोक था, जिसने उसे एक बार ही विह्वल बना दिया था। वह केवल देख रहा था। फिर मानो उसकी चेतना भंग हुई। अत्यन्त धीरे-धीरे वह नीचे उतरा। लड़के उसे देखते ही दूर भाग गये। वह अपने मुमूर्षु साथी के निकट आया। उसके पार्श्व में बैठ गया। उसका एक हाथ उठाया, छोड़ दिया। पैर उठाया, छोड़ दिया। फिर एकटक होकर देखने लगा। तभी उसके साथी के प्राण निकल गये। वह चीख़ पड़ा। फिर उसके मुँह से रह-रह कर बारीक आवाज़ें निकलने लगीं। बहुत ही करुण और मर्म-भेदिनी! वह रो रहा था! पशु अपने बन्धु की मृत्यु पर मनुष्य की भाँति विलाप करने लगा। वह उसकी भाँति आँसू भी नहीं गिरा रहा था, इसे कौन बता सकता है?

मेरी पत्नी से वह दृश्य देखा नहीं गया। वह बुल्ली को लेकर भीतर चली गयीं। उनके कोमल हृदय के लिए वह सारा दृश्य इतना दुःखान्त था कि सन्ध्या के समय जब मेरे घर आने पर उन्होंने बन्दर की शोचनीय मृत्यु की सारी कथा सुनायी, तो मैं भी दुःख और करुणा से अभिभूत हुए बिना नहीं रहा। मैंने मोती की तलाश की। वह खिन्न-वदन घर के कोने में गुमसुम बना पड़ा था। मालूम हुआ, आज उसने भोजन नहीं किया। मुझे दया आयी। अपने चेहरे को प्रसन्न बनाकर उसे वास्तव में क्षमा करने के अभिप्राय से उसके समीप पहुँचा। कहा—'मोती, क्या बात है? तुम इस प्रकार चुपचाप क्यों पड़े हो?' पर मोती चुप। तब मैंने उसकी पीठ पर प्यार से हाथ फेरा। उसे पुचकारा, प्यार किया, फिर भी उसने सिर नहीं उठाया। समझ गया। एक तो मेरी पत्नी ने उसे क्षमा नहीं किया, जिसके कारण उसने अपने को अपमानित समझा है; उसके आत्माभिमान को ठेस पहुँची है। दूसरे, अपनी स्वामिनी के कठोर व्यवहार के द्वारा उसे अपने कृत कर्म के गुरुत्व का आभास मिल गया है। वह समझ रहा है कि उसने कोई भारी अपराध किया है। इसका उसे दुःख है। वह जिस प्रकार कर्म के अच्छे पहलू से परिचित है, उसी प्रकार बुरे से भी। यह गुण अन्य पशुओं में नहीं होता। बिल्ली यदि कोई निषिद्ध कर्म करती पकड़ी जाय, तो वह तुरन्त भागेगी, लज्जा से नहीं, वरन् भय से। परन्तु मोती की लज्जा दुःख और शोक के ऐसे अतल गर्त को स्पर्श करती है, जहाँ हमारे गहरे से गहरे मनोभाव छिपे रहते हैं। मोती आज अपने अमनत्व से च्युत हुआ है। उसने आज अपने स्वामी

की इच्छा के प्रतिकूल कोई बड़ा भारी अपराध किया है। इसका उसे महान् सन्ताप है। जब तक उसकी स्वामिनी सच्चे हृदय से उसे क्षमा नहीं करतीं, वह अपने को अपराध-मुक्त नहीं समझेगा, और तब तक उसके सन्तप्त हृदय को शान्ति भी नहीं मिलेगी। मैंने अपनी पत्नी को बुलाया। उनसे अनुरोध किया कि वह इस बार मोती को क्षमा कर दें, और अपने हाथ से उसे भोजन करावें। मोती मानो सब समझ गया। उसने गर्दन उठायी, पंजा आगे बढ़ाया, पूँछ भी हिली, और वह मेरी ओर कातर दृष्टि से देखता हुआ सचमुच ही मानो कहने लगा—'अब मैं ऐसी ग़लती कभी न करूँगा।' मैंने उसकी गर्दन में अपने हाथ डाल दिये। उसे चूम लिया। वह उठ कर खड़ा हो गया। आध घंटे बाद वह नित्यप्रति की भाँति मुन्नी के साथ खेल रहा था।

× × ×

सन्ध्या को मैं घूमने जाता, तो मोती को अपने साथ ले जाता था। उस दिन भी ले गया। निश्चिन्त भाव से जा रहा था। इतने में ऊपर नज़र उठायी, तो मकान की छत पर बन्दर बैठा था। देखते ही कल की सारी घटना का स्मरण हो आया। मोती भूँक उठा। और दिन मैं उसके भूँकने की परवा नहीं करता था। पर उस दिन मुझे गुस्सा आ गया। फिर वही बात। आख़िर बन्दर से इसकी ऐसी कौन-सी दुश्मनी है, जो एक के प्राण लेकर भी अब दूसरे पर गर्जन-तर्जन करने को उतारू है। दो-तीन बार डाटना पड़ा, तब कहीं वह शान्त हुआ। हम दोनों सड़क पर जा रहे थे। मैंने देखा, वह बन्दर भी छतों-छत हमारा अनुसरण कर रहा

है। यह कोई नयी बात नहीं थी। फिर भी मैंने लक्ष्य किया कि वह बन्दर आज विशेष रूप से मेरे नज़दीक और साथ ही साथ चल रहा है। कुत्ते उसे देखकर भूँक रहे थे, और लड़के रास्ते चलते उस पर ढेले फेंक रहे थे, पर इन सबकी उसे परवा नहीं थी। वह मोती को देख रहा था। एक मोती पर ही उसकी नज़र थी। 'तो क्या वह जानता था कि मोती ही उसके बन्धु की शोचनीय मृत्यु का प्रधान कारण है?'

मैं बाज़ार से जा रहा था। एक दूकान पर मेरे एक परिचित मित्र खड़े थे। उनसे बात करने को मैं रुक गया। मोती मेरी बगल में था। ५-६ मिनट हुए होंगे कि एक फूटी बोतल बड़े वेग से लुढ़कती हुई आयी, धम्म से मोती की पीठ पर गिरी, और फिर धरती पर गिरकर चकनाचूर हो गयी। मैं चौंककर पीछे हट गया, और विस्मित भाव से ऊपर देखने लगा। अलक्ष्य स्थान से आयी उस बोतल ने सभी को आश्चर्य में डाल दिया था। तब तक गली के लड़के चिल्ला उठे—'बन्दर है बन्दर! भागिये, ईंटा फेंक रहा है।'···ईंटा फेंक रहा है!' 'मेरे ऊपर?' कुछ क्षुब्ध और कुपित होकर मैं पीछे हटा। बन्दर पर भी मेरी नज़र पड़ी। भयानक रूप से मुझे खीसें दिखा, उछलकर तुरन्त दूसरी दूकान पर पहुँच गया। मैं उसके इस विलक्षण व्यवहार के संगत कारण पर विचार कर ही रहा था कि दूकान पर खड़े हुए एक सज्जन बोले—'अरे साहब, कुछ न पूछिये। जब से कुत्तों ने इसके साथी को मार डाला है, यह उनका घातक शत्रु बन गया है। कुत्ते को देखा नहीं कि जो हाथ में आता है, फेंकता है। अभी उस दूकान पर एक सज्जन का तो सिर बच गया।'

'तो, यह बात है।' मैं बन्दर को देखने लगा। वह दूर छत पर बैठा मोती की ओर ही घूर रहा था। उसकी दो नन्हीं चमकीली आँखों में जो बात पहले नहीं दिखायी दी थी, वह अब दृष्टिगोचर हुई। मैं डरा तो नहीं, पर मोती के साथ फिर किसी दूकान पर खड़ा नहीं हुआ। बीच रास्ते से चलने लगा। देखा बन्दर बराबर मोती के साथ चल रहा है। गली में और भी कुत्ते थे, पर उसका ध्यान था मोती पर ही। दूकानों का ताँता टूटा, तो उतरकर दूर-दूर मैदान में चलने लगा। एक बार बहुत नज़दीक आ गया। मोती भूँका और झपटा। बन्दर खिसियाकर पेड़ पर चढ़ गया। फिर उतर आया। मैंने मोती को मना नहीं किया। बात यह थी कि कल की बन्दर वाली घटना को लेकर मैं विचारों की ऐसी उधेड़-बुन में फँस गया कि मोती से कुछ कहने का ख़याल भी न आया। उसका भूँकना और गुर्राना बढ़ता ही गया। साथ ही मैंने देखा कि बन्दर भी जब-तब खिसियाकर उस पर झपटने का उपक्रम करता है, पर कदाचित् उसे साहस नहीं होता। बार-बार मोती के भूँकने और बन्दर के निकट आ जाने के कारण मेरे लिए आगे बढ़ना कठिन हो गया। मैं लौट पड़ा। बन्दर भी लौटा। मुझे अब सन्देह नहीं रहा कि यह वास्तव में व्यापक रूप से कुत्तों का और विशेष रूप से मोती का शत्रु बन गया है। यदि वश चले, तो मोती को चबा ही जाय।···किसी तरह घर आया। बन्दर ने पीछा नहीं छोड़ा। छत की मुँडेर पर बैठ गया। यह अच्छी आफ़त रही। मोती को घर में बाँध दिया। रात हुई। छत पर अँधेरा छा गया। पर क्या यह बन्दर वहाँ से टला होगा ? मुझे तो विश्वास नहीं।

सवेरा हुआ। आँगन में आते ही मेरी पत्नी ने भयसूचक आवाज़ में कहा—'छत पर बन्दर है।' मैंने कहा—'रहने दो। मोती को आज खोलना मत।' पर मोती पहले ही मुक्त हो चुका था। आँगन में आया। वैसे ही धम्म से एक ईंट मेरी पत्नी के पैरों के पास आ गिरी। और जब तक वह ऊपर देखें, बन्दर चलता बना। पत्नी नाराज़ होकर बोलीं, 'यह तो बड़ी विपत्ति है। बच गयी, नहीं तो अभी सिर ही फूट जाता। इतनी बड़ी यह ईंट इसे मिली कहाँ ?' मैंने उन्हें बताया—'इस नयी छत पर कुछ ईंटें और पत्थर की चट्टानें पड़ी हैं।' 'उन्हें अलग करवा दो।' वही मैं सोच रही थी। उसी समय नौकर से कह कर ईंटें हटवा दीं। पत्थर की चट्टानें पड़ी रहीं। इतनी भारी चीज़ कोई खिसका सकता है, इसकी कल्पना भी उस समय मेरे मन में नहीं आयी।

निश्चय कर लिया कि सन्ध्या को अकेला ही घूमने जाऊँगा, पर इससे क्या ? बन्दर ने दिन-भर छत नहीं छोड़ी। मैं भी सतर्क रहा। मोती को आँगन में नहीं आने दिया। पर सन्ध्या के बाद वह एक बार ज्यों ही आँगन में उछलकर आया, त्यों ही एक हलका-सा ढेला उसकी पीठ पर गिरा। यह अप्रत्याशित था। क्योंकि छत पर नौकर ने ढेले के नाम एक कङ्कड़ भी नहीं छोड़ा था। लम्बा-सा बाँस उठाया। हाँ, मैं सचमुच उससे डरने लगा था। कहीं आक्रमण न कर बैठे। छत पर पहुँचा, त्यों ही बन्दर भागा, और दूर नीम के पेड़ पर जा चढ़ा। मैंने देखा, छत पर बहुत-से ढेले, तीन-चार फूटी बोतलें, कुछ लकड़ी के

टुकड़े और इसी प्रकार की अन्य सामग्री पड़ी है। निस्सन्देह यह बन्दर की ही करतूत थी। मोती को मारने के उद्देश्य से ही उसने यह सामान इकट्ठा किया था। मैंने उठाकर दूर फेंका। वहीं खड़े होकर सोचने लगा—'बन्दर की जो हत्या हुई, उसका दण्ड तो भुगतना ही पड़ेगा। इस जन्म में नहीं, तो अगले जन्म में। पर यह बन्दर क्या कर बैठे, इसका कुछ ठीक नहीं। इसकी प्रतिहिंसा, भगवान् जाने, मेरे घर पर कौन-सी आफ़त ढाये।' इसी तरह की चिन्ता करता हुआ मैं नीचे उतरा।

दूसरे दिन फिर वही बन्दर! तब मेरी पत्नी ने कहा—"यह तो ठीक नहीं। क्या ठिकाना, कभी आँगन में आकर मुन्नी को नोच-खसोट ले।" उनकी आशंका मुझे बिलकुल निर्मूल नहीं जान पड़ी। कुछ समझ में नहीं आया, क्या करूँ। यही कर सकता था कि मोती को पल-भर के लिए भी न खोलूँ। पर इतना भारी अत्याचार उस पर कैसे करूँ? दोपहर तक उसे बाँधकर ही रक्खा। तदुपरान्त थोड़ी देर के लिए उसे खोल दिया। बहुत कोशिश की कि वह घर के भीतर ही रहे, पर मोती खुली वायु और प्रकाश चाहता है। अन्धकार से उसे घृणा है। बन्धन में तो वह रह ही नहीं सकता। अतएव ज्यों ही मुक्त हुआ, उच्च शब्द द्वारा अपनी प्रसन्नता प्रकट करता हुआ आँगन में आ गया। मुन्नी इतना ख़ुश, मानो स्वयम् उसे किसी बन्धन से छुटकारा मिला हो। मोती के साथ खेलने लगा। गेंद पानी से भरे टब में फेंक दी। मोती गया और गेंद को ऐसे हौले से उठाकर ले आया, मानो कोई अत्यन्त कोमल

और भंगुरशील वस्तु हो। स्वामी के पैरों पर रख दी। उसके कृतत्व पर मुन्नी इतना प्रसन्न हुआ कि किलक-किलककर आँगन में धूम मचाने और गेंद को बार-बार ऊपर उछालने लगा। इसी उछल-कूद में गेंद छत पर गयी। मोती मानो किसी प्रकार अपने छोटे स्वामी को प्रसन्न करने का अवसर ढूँढ़ रहा था। गेंद ऊपर गयी नहीं कि उसके साथ एक-दो छलाँग में वह भी छत पर पहुँच गया। यहाँ से गेंद को मुँह में दबाकर वह लौट ही रहा था कि दोमंज़िले के न-जाने कौन-से कोने से बन्दर प्रकट हुआ, और बिजली की तरह तड़पकर मोती पर टूट पड़ा। मोती भयानक चीत्कार करके भूँका। बन्दर ने उसकी पूँछ पकड़ ली थी। जब तक यह सब हो, मैंने लपककर डंडा उठाया, और दूसरे क्षण मैं छत पर था। मेरा पहुँचना था कि बन्दर ने छलाँग मारी, और जा बैठा पड़ोस के मकान की छत पर। वहाँ से बार-बार खीसें निकालकर मुझ पर अपना ग़ुस्सा प्रकट करने लगा। मैं अपना क्रोध तो पी गया। पर मोती भयानक रूप से खिसिया उठा था। क्रोध से उसकी आँखें जल रही थीं। पीछे की पसलियाँ फैली थीं और गर्दन के बाल फूलकर किसी बड़े पुष्प की तरह खिल गये थे। बार-बार अपनी पैनी दाढ़ें चलाकर बन्दर की तरफ झपटता था, मानो उसके और बन्दर के बीच में जो अवधान है, उसे एक ही छलाँग में पार कर जायगा। इस प्रकार बड़ी देर तक भूँकता और अपना रोष प्रकट करता रहा। भूँकते-भूँकते थक गया, तो आँगन में आकर गुमसुम होकर लेट गया। ज़रूर कुछ उदास था। शत्रु पर वह प्रतिघात नहीं कर सका था। इससे बढ़कर

लज्जा और अपमान की बात उसके लिए और हो क्या सकती थी ? वह सचमुच अपना मुँह छिपाने की कोशिश कर रहा था। पत्नी के बहुत कहने पर भी आज दूसरी बार उसने भोजन नहीं किया।

बन्दर के उपद्रव से बचने का अन्त में मुझे एक उपाय सूझा। राइफ़िल तो थी ही। थोड़े ख़ाली कारतूस भी थे। नौकर को हुक्म दिया, 'दिन में राइफ़िल लेकर दोमंज़िले की छत पर बैठो, और जब बन्दर दिखायी दे, ख़ाली फ़ायर कर दो।' पत्नी को आदिष्ट किया, 'मोती सदैव भीतर रहे, और मुन्नी घर से बाहर न निकले।' दूसरे दिन वही किया गया। नौकर दिन-भर धूप में छत का पहरा देता रहा। मोती और मुन्नी घर से बाहर नहीं निकले। पर भय और आशंका के इस वातावरण में कोई चिर काल तक तो रह नहीं सकता। एक सप्ताह हो गया। बेचारा मोती घर से बाहर नहीं निकला था। मैं उसके निकट गया। मुझे देखते ही उछल पड़ा। त्यों ही रस्सी का झटका लगा। जहाँ का तहाँ खड़ा हो गया। और उस पर जो अत्याचार हुआ है, उसके विरुद्ध उच्च स्वर में अपना समस्त रोष और क्षोभ प्रकट करने लगा। मैंने उस पर हाथ फेरकर कहा—"अच्छा मोती, आज तुम्हें छुटकारा मिलेगा। आज तुम मेरे साथ प्रकाश के दर्शन कर सकोगे। आज तुम्हें मैं छत पर ले चलूँगा।" और मैंने उसे खोल दिया। एक ही छलाँग में वह आँगन में पहुँच गया। ओहो! इतने दिन तक वह इस प्रकाश और इस वायु से वंचित क्यों रहा, उसकी समझ में नहीं आया। आँगन में आते ही भूँकने लगा, मानो इतने से उसकी तृप्ति नहीं हुई। इस घर की चहार-

दीवारों के बाहर जो आमोद-प्रमोद हो रहा है, वह उसमें भाग लेना चाहता है। मैंने कहा, 'बाहर नहीं। चलो, थोड़ी देर के लिए तुम्हें ऊपर ले चलूँ।' मैं छत पर आया। मोती ने मेरा अनुसरण किया। उस दिन इतवार था। कोई काम नहीं था। आराम-कुर्सी डालकर छत पर बैठ गया। मोती मेरी बगल में बैठा। प्रातःकाल की उज्वल, प्रखर धूप उसके कोमल, सुचिक्कण गात्र पर चमक उठी। मैंने स्नेहपूर्वक उसके माथे पर हाथ फेरकर कहा—'मोती, मैं किताब पढ़ूँगा। तुम चुपचाप धूप खाओ।'

मोती समझ गया। वह मेरा प्रत्येक संकेत समझ लेता था। मेरे प्रत्येक अभिप्राय की थाह उसे तुरन्त मिल जाती थी। पूँछ हिलाकर, मृदु-मृदु शब्द करके, उसने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। वह वास्तव में आज प्रसन्न था। मैंने उसे बन्धन-मुक्त किया था। घड़ी-भर के भीतर ही वह अतीत को भूल गया था। भविष्य की भी उसे चिन्ता नहीं थी। इस समय केवल सुख के स्वप्न से घिरा हुआ वर्तमान उसके समीप था। उसकी प्रसन्नता मन में समा नहीं रही थी। वह स्थिर नहीं बैठ पा रहा था। वह भूँकने लगा। मानो वृक्ष पर बैठी हुई वह चिड़िया और घर के बाहर का समस्त अस्पष्ट कोलाहल उसे अपनी ओर बुला रहा था। उसका भूँकना और इन सबका बुलाना व्यर्थ नहीं हुआ। मुन्नी हाथ में रोटी लेकर आया। वही तो मोती का स्वर्ग है। रोटी मिल जाय, फिर उसे स्वर्ग नहीं चाहिए। परन्तु यह क्या? रोटी का तिरस्कार करके वह दोमंज़िले की छत की ओर मुँह करके फिर भूँक उठा। मैंने मुन्नी से

कहा—'यह रोटी नहीं खायेगा। इसके लिए बढ़िया बिस्कुट लाओ।' 'बिस्कुट तो हैं नहीं।' मुन्नी ने निराशा से मुँह लटकाकर जवाब दिया। 'तो जलेबियाँ मँगाओ।' मोती तब भी शान्त नहीं हुआ। भूँकता ही रहा। मैंने डपटकर कहा—'यह क्या? जलेबियाँ आ रही हैं। चुप बैठ जाओ। धूम मचाओगे, तो फिर बाँध दिये जाओगे।' मोती क्षण भर के लिए चुप हो गया। सहसा ऊपर की ओर मुँह करके फिर भूँक उठा। मानो कह रहा था—'बाँध कैसे दोगे। अब मैं तुम्हारे बन्धन में पड़ूँगा ही नहीं।' उसकी इस धृष्टता पर कुपित होकर मैं उसे दंड देने जा ही रहा था कि सहसा छत की मुंडेर······नहीं, चट्टान थी, जो अचानक दोमंज़िले से मोती के सिर पर गिरी। मोती दब गया, और करुण चीत्कार कर उठा। वह भयानक कांड देखकर मैं क्षण भर के लिए जैसा था, वैसा ही रह गया। धमाके की आवाज़ सुनकर मेरी पत्नी आँगन में दौड़ आयी थीं। मैंने उन्हें कहते सुना, 'वह बन्दर गया! बन्दर·········!'·········मैंने अपना सिर पीट लिया। 'तो बन्दर ने ही यह काम किया था!'

जब तक वह प्राणघाती चट्टान हटे, मोती बेसुध हो गया था, और दूसरे दिन सब समाप्त हो गया। बन्दर फिर दिखायी नहीं दिया। मुझे उस पर तनिक भी रोष नहीं है। फिर भी यदि वह चला जाय, तो उसकी ख़ुशी।

पुष्पहार

उस समय मोहनलाल की अवस्था ११ साल की थी। शान्ता भी ८ वर्ष की बालिका थी। दोनों छुटपन से एक ही आँगन में खेले थे। एक ही प्रकाश के स्पर्श से वे नन्हीं-नन्हीं कलियाँ विकसित हुईं और एक ही वायु-मण्डल में रह कर उन कलियों में सौरभ का सञ्चार हुआ। मोहन शान्ता के बिना रह नहीं सकता था और शान्ता मोहन के बिना अकुला उठती थी। लोग कहते थे, प्रकाश और छाया का जोड़ा है। दोनों एक साथ उठते-बैठते थे, एक साथ खाते-पीते थे, घर के सामने की सड़क पर एक ही साथ धूल में खेला करते थे। पढ़ने के लिए स्कूल भी साथ-साथ जाते थे। यदि कभी मोहन को स्कूल से आने में देर हो जाती, तो शान्ता चौराहे पर खड़ी-खड़ी उसकी राह देखा करती। साथ की लड़कियाँ चली जातीं, तब भी वह खड़ी रहती, मोहन को साथ लेकर घर जाती। एक दिन उसको स्कूल से लौटने में देर हो गयी। शान्ता रूठ गयी। वह उस दिन मोहन से बोली नहीं। उसका यह क्रोध ईर्षा से था, अथवा वह अकेली खेलती रही, इसलिए नाराज़

हुई, पता नहीं। किन्तु उस दिन से मोहन ने बाहर खेलने जाना छोड़ दिया।

घर के पास ही एक बाग़ था। उसमें अमरूद ख़ूब थे। सवेरा होने के पहले ही दोनों बाग़ में जा पहुँचते, वहीं खेला करते। प्रकाश की किरणें बाग़ के झुरमुट में से झाँक कर उनकी क्रीड़ा देखा करतीं। कहीं दोनों ने गुलाब के फूल तोड़े। बाज़ी लगायी—देखें कौन कितने फूल तोड़ता है। फूल चुने, और तोड़-मरोड़ कर बिखरा दिये। फिर बेले के हार गूँथना शुरू किया, अथवा तितलियों के पकड़ने की बाज़ी लगी। माली के लाख मना करने पर भी मोहन अमरूद के पेड़ पर चढ़ जाता। शान्ता डरती, कहीं डाल टूट न जाय। किन्तु, 'माली बदमाशी करता है, कच्चे अमरूद ला कर देता है। मोहन के तोड़े हुए फल मीठे होते हैं।' इच्छा होते हुए भी वह मोहन को पेड़ पर चढ़ने से मना न करती। सन्ध्या के समय जब पक्षी अपने घोंसलों में लौटने लगते, सूर्य की किरणें वृक्षों की पत्तियों पर स्वर्ण-रेणु छितरा देतीं, तब भी दोनों बाग़ में खेला करते। सूर्य-क्षितिज के नीचे जाने के पहले ही बाग़ में अपनी छाया छोड़ जाता। अँधेरा होने लगता। घर का पुराना नौकर रामदास दोनों को ढूँढ़ता हुआ बाग़ में आता। उसके पैरों की आहट पाते ही दोनों घर भाग जाते।

एक दिन की बात है। शान्ता और मोहन दोनों बाग़ में खेल रहे थे। उस दिन प्रातःकाल से ही पूर्व दिशा ने बादलों के एक हलके घूँघट में अपना मुँह छिपा रक्खा था। क्षितिज से कुछ ऊपर बादलों

(२)

इसी प्रकार पाँच साल बीत गये। शान्ता अब वह अधखिली कली नहीं रही। रूप की पंखड़ियाँ एक-एक करके खिलने लगीं। पानी बरस जाने से जैसे प्रकृति निखर जाती है, सौन्दर्य्य की ज्योति से वैसे ही उसका शरीर मँज गया। किशोर यौवन के क्षेत्र में पैर रखने की राह ढूँढ़ रहा था; किन्तु सकुचाता था और कोई उपाय न देख उसने अपना वह लजीलापन आँखों को सौंप दिया था। हृदय की आन्तरिक भावनाएँ अपने पंख फैला कर उड़ने के लिए छटपटा रहीं थीं। किन्तु रास्ता अब भी नहीं मालूम था।

शान्ता अब ब्याह के योग्य हो गयी, इस बात का पता सबसे पहले लगा उसकी मा को। वह कई बार अपने पति को इस बात की याद दिला चुकी थी। किन्तु 'अभी कुछ दिन और ठहर जाओ', कह कर श्यामस्वरूप उसकी बात को टाल दिया करते थे। एक दिन जब वह भोजन करने के लिए आये, तब उनकी पत्नी ने फिर वही बात छेड़ी—'तुम्हें तो तनिक भी चिन्ता नहीं। ऐसे कामों में ज़रा दौड़-धूप करनी पड़ती है।' शान्ता पास ही के कमरे में बैठी हुई एक रेशमी रूमाल में फूल काढ़ रही थी। वह मन लगा कर अपना काम कर रही थी। मा के शब्दों की भनक उसके कानों में पड़ी। उत्सुकता ने प्रश्न किया—'वह कौन-सा काम है?' उसने सुना, पिता मा से कह रहे हैं—'मैंने आज तुम्हारे प्रस्ताव को मोहन के पिता के सामने रक्खा था। उन्होंने स्वीकार भी कर लिया है।'

पुरस्कार

'ऊँह !' शान्ता की उंगली में सुई चुभ गयी। उसकी आँखें थीं सुई के ऊपर, किन्तु हृदय था कहीं और।

'तो फिर इसी महीने में शान्ता का व्याह हो जाना चाहिए।' सुन कर शान्ता की हृदय-तन्त्री झनझना उठी। मोहन के साथ उसका व्याह होगा ! यह कभी उसके मन में नहीं आया। इसके लिए उसने कभी इच्छा प्रकट नहीं की। छुटपन में वह मोहन को मोहन कहती थी, और अब भी मोहन उसके लिए मोहन ही है। उसके प्रेम का क्षितिज पहले ही-सा परिमित और मेघहीन था। वह मोहन को कितना प्यार करती है, यह उसने कभी अन्दाज़ा नहीं। उसके भाव-सिन्धु की गम्भीरता में आज लहरें उठीं। मन किसी अज्ञात माधुर्य के स्पर्श से विह्वल हो उठा। अभी तक वह यों ही मोहन के साथ हँसती थी, खेलती थी। 'हम भिन्न-भिन्न पथ के दो पथिक हैं'—यह बात कभी उसके ध्यान में नहीं आयी। आज उसने सोचा—'यदि कहीं मोहन से मेरा साथ छूट जाता, तो ?'

इतने में कमरे के भीतर किसी की छाया पड़ी। शान्ता ने सिर उठा कर देखा, मोहन मौजूद है।

इन दिनों मोहन शान्ता से बहुत-कम मिलता-जुलता था ! आज कल पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता', न आने का यही बहाना था। वह आता था सिर्फ़ इतवार के दिन, और सो भी उसकी मा के पास। कई दिनों बाद अचानक मोहन को देखकर शान्ता पूछ बैठी—'आज पढ़ने से फ़ुरसत कैसे मिल गयी ?'

'जब पढ़ने में जी न लगा, तभी छुट्टी है। हाँ, तुमसे एक बात कहनी है।'

'कहो।'

किन्तु बात-चीत अधूरी ही रह गयी। शान्ता के कान में आवाज़ पड़ी 'शान्ता!' शान्ता के हृदय में उथल-पुथल मच गयी। आज यह पहला दिन था, जब मोहन के सामने उसके गुलाबी गाल लज्जा के मारे लाल हो गये। वह सकपकानी-सी होकर उठ खड़ी हुई। मोहन शान्ता के इस भाव-परिवर्तन को समझा नहीं। उसने कहा—'सुनो, सिर्फ़ एक छोटी-सी बात है।'

'देखो न, मा बुला रही हैं,' कहकर शान्ता कमरे के बाहर चली गयी।

(३)

कुछ दिन बाद मोहन के साथ शान्ता का ब्याह हो गया। किन्तु वह ब्याह का सुख अधिक दिनों तक नहीं भोग पायी। उन दिनों शहर में हैज़े का बड़ा ज़ोर था। अचानक मोहन को हैज़ा होगया। दिन-भर उसकी अवस्था ख़राब रही। दूसरे दिन मृत्यु हो गयी। शान्ता रोयी, किन्तु स्वामी के लिए नहीं। स्वामी को तो उसने अभी पहचाना भी न था। ब्याह के मर्म को तो उसने अभी समझा भी न था। उस चिर नवीन बन्धन से उसके जीवन में अभी कुछ भी नवीनता नहीं आयी थी। वह रोयी अपने छुटपन के साथी मोहन के लिए। रोते-रोते उसने अपनी आँखें सुजा डालीं। माता ने समझाया, सखी-सहेलियों ने ढाढ़स

बँधाया; किन्तु शान्ता के व्यथित-चित्त को शान्ति न मिली। कई दिन बीत गये। धीरे-धीरे उसकी अवस्था ख़राब होने लगी। सफ़ेद वस्त्र से ढका हुआ उसका वह मुरझाया हुआ शरीर ठीक ऐसा मालूम पड़ता था, जैसे पाले की मारी हुई कमलिनी। उसने कमरे से बाहर निकलना छोड़ दिया। सहेलियाँ उसके दुःख में सहानुभूति दिखाने आतीं, मुहल्ले की बड़ी-बूढ़ी औरतें उसकी सास के पास आकर उसके अभाग्य की चरचा किया करतीं; किन्तु वह कमरे में बन्द रहतीं, तकिये में मुँह छिपाये रोया करती। इसके इस दुःख के रोने में कभी-कभी सुख का आभास झलक आता था। वह स्वयम् नहीं समझती थी कि यह परिवर्तन कैसे हो जाता है। रोते-रोते अचानक दरवाज़े की ओर ताकने लगती—'मोहन अभी तक मनाने नहीं आया।' इस रोने में उसको सुख मिलता था। वह भूल जाती कि मोहन जहाँ गया है, वह स्थान उसके रोने की आवाज़ से परे है। कभी-कभी ऐसा होता कि कमरे के बाहर किसी के पैरों की आहट पाकर वह चौंक उठती। दौड़कर किवाड़ खोल देती। किन्तु दूसरे क्षण उसकी कल्पना का सारा जाल छिन्नभिन्न हो जाता। जब किसी काम में तबियत न लगती, तब मोहन के पहनने-ओढ़ने के कपड़ों को ठीक करने लगती, उसके पढ़ने की किताबों की धूल झाड़ा करती, उनको अलमारी में सजाकर रखती। किन्तु इन पुस्तकों को पढ़नेवाला नहीं है, यह सोचकर उसका कलेजा मुँह को आने लगता। वह रोने लगती।

एक दिन वह मोहन का बक्स खोलकर बैठी। ढेर-के-ढेर कपड़े रक्खे हुए थे। वह रोती और कपड़े निकालती जाती थी। सब कपड़े

निकाल-निकाल कर बाहर रक्खे। सबसे नीचे की तह में उसे एक डिबिया मिली। उसने खोलकर देखा—सूखे हुए मौलसिरी के फूलों का हार था। देखकर शान्ता चौंक उठी। फूलों से अब भी एक प्रकार की भीनी-भीनी गन्ध निकल रही थी। शायद यह पहला ही मौका था, जब बन्द कर देने के बाद डिबिया खोली गयी। शान्ता ने हार बाहर निकाला। फूलों की धूल बन गयी। एक लाल रेशमी डोरा उसके हाथ में रह गया। पाँच साल पहले की एक घटना उसको याद आयी। मोहन के गले में इस हार को डालते हुए उसने कहा था—'लो, हमारा-तुम्हारा ब्याह हो गया।' उसे सुध आयी उस दिन की, जब एक दिन लोगों को दिखाने के लिए सचमुच ही उसके ब्याह का ढोंग रचा गया था। उसके चार-पाँच दिन बाद ही उसके सन्तोष और सुख की चूड़ियाँ फूटी थीं, उसने रंगीन वस्त्र उतार कर सफ़ेद धोती पहनी थी। उसने अपने विधवा-वेश की ओर देखा, और देखा अलंकार-शून्य अपने हाथों को। उसकी आँखें डबडबा आयीं। हृदय उच्छ्वसित हो उठा। फूलों की धूल अब भी उसके सामने थी। 'नाथ, इन फूलों की सुगन्धि के बिखरने के पहले ही, तुम्हारे जीवन-पुष्प की पँखड़ियाँ बिखर गयीं' कहती हुई वह संज्ञाहीन होकर वहीं गिर पड़ी!

जलधारा

उसका नाम जलधारा था। छोटी-सी लड़की थी। गोरा बदन, गोल चेहरा, गुलाबी ओंठ; ऐसा जान पड़ता था मानो वसन्त ने अपनी फुलवारी का पहला फूल प्रकृति की भेंट किया हो।

उसके पिता कचहरी में नाज़िर थे। एक दूसरी जगह से बदल कर जब वे महरौनी तहसील में आये, तब बैलगाड़ी से उतरकर सबसे पहले उन्होंने मेरे ही घर में पैर रक्खा। साथ में उनकी पत्नी थीं और उनकी गोद में कौन था, उस समय मैंने नहीं देखा। उन्हें तो मैंने भीतर भिजवा दिया और नाज़िरजी के आराम के लिए अपनी बैठक ख़ाली कर दी। दोपहर के समय जब नाज़िरजी भोजन कर चुके तब मैं भीतर गया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि मेरी पत्नी की गोद में एक छोटी सी लड़की खेल रही है। मुझे देखकर लड़की कुछ सकपका गयी। मैंने उसको अपनी गोद में लेने के लिए दोनों हाथ फैला दिये, पर उसने मेरी पत्नी के अञ्चल में अपना मुँह छिपा लिया। मैंने हँसते हुए कहा—'तुमने तो एक घंटे में इससे गहरी जान-पहचान कर ली।'

मेरी पत्नी ने उत्तर दिया—'तुम जानते नहीं, मैं उसकी छोटी बहू हूँ, क्यों न जलधारा ?'

जलधारा ने धीरे से कह दिया—'हूँ ।'

मैंने फिर कहा—'तुमने यह सम्बन्ध कहाँ से ढूँढ़ निकाला ?'

पत्नी ने जलधारा की ओर देखते हुए कहा—'सो जलधारा से पूछो ।'

मैंने जलधारा से पूछा—'क्यों बिटिया, यह तुम्हारी कौन है ?'

उसने उत्तर दिया—'छोटी बहू ।'

'और मैं कौन हूँ ?'

मेरी पत्नी ने उसकी ठुड्डी पर हाथ रखकर कहा—'कह दो, दादा ।'

जलधारा ने मेरी ओर मुँह करके कहा—'दादा' और जल्दी से अपना मुँह फेर लिया ।

मैंने उसे अपनी गोद में लेने की ग़रज़ से फिर कहा—'जलधारा, मिठाई खाओगी ?'

उसने सिर हिलाकर कहा—'ना ।'

मैंने फिर उससे कुछ नहीं कहा । रसोई-घर में भोजन करने चला गया ।

नाज़िरजी को मैंने अपने मकान के पास रखा । दो-चार दिन तो उनकी पत्नी को मकान, मुहल्ले और बस्ती के बारे में बड़ी शिकायत रही, किन्तु फिर धीरे-धीरे उनका जी लगने लगा । दिन के समय नाज़िरजी तो कचहरी चले जाते और वह मेरे घर आकर बैठी रहतीं और ज़लधारा

तो हमेशा ही मेरे यहाँ बनी रहती। न कभी रोती, न कभी घबराती, और न कभी किसी बात की शिकायत करती। सदाबहार के फूल की तरह सदा प्रसन्न और हँसमुख बनी रहती। सन्ध्या के समय जब उसकी मा घर जाने लगतीं और उससे कहतीं—'जलधरा घर चलो,' तब वह ऊँ''ऊँ''करती हुई मेरी पत्नी का अञ्चल पकड़ लेती। लाचार होकर उन्हें जलधारा को वहीं छोड़ जाना पड़ता। रात के समय जलधारा को भूख लगती, तब वह मेरे ही घर में अपनी मा को ढूँढ़ती फिरती। मैं उसे घर भिजवा देता।

एक दिन की बात है। मैं भोजन कर रहा था। पास ही जलधारा बैठी खेल रही थी। मैंने कहा—'जलधारा रोटी खाओगी?' सुनते ही वह तत्काल अपनी छोटी बहू के पास भाग गयी। मैं भोजन करके बाहर चला गया। उसके थोड़ी देर बाद जब मैं फिर भीतर गया तब देखा, जलधारा मेरी पत्नी की गोद में बैठ कर दूध-भात खा रही है। उसका मुँह दूध से सन रहा था और चावलों के दो-एक दाने पेट पर भी पड़े हुए थे। मैं बड़ी देर तक उसकी ओर देखता रहा, और वह भी अपने मुँह के कौर को चबाना बन्द करके मेरी ओर देखने लगी। मेरी पत्नी ने एक कौर हाथ में लेकर कहा—'लो'। उसने मुँह खोल दिया। कुछ चावल नीचे गिर पड़े और कुछ उसके छोटे से मुँह में रह गये। उनको चबाते हुए वह मेरी ओर फिर देखने लगी।

मैंने अपनी पत्नी से कहा—'जलधारा को तुम्हारी गोद में देखकर मुझे ईर्षा होती है।'

'क्यों ?'

'वह मेरे पास नहीं आती ।'

'तुम्हें बच्चों का खिलाना भी आता है ? गोद में उठा लेते हो, जैसे कोई गठरी हो । उस दिन बेचारी को लेकर इतना मसल डाला कि रो पड़ी । मेरे पास देखो, रोना तो दूर रहा, कभी घर का नाम तक नहीं लेती ।'

मैंने कहा—'क्यों जलधारा, ऐसा ही है ?'

वह नहीं बोली । अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखती भर रही । मैं वहाँ से चला आया ।

(२)

एक दिन मेरी पत्नी उसको गोद में लेकर आँगन में खड़ी हुई थीं । इतने में मैं पहुँच गया । जलधारा के हाथ में एक गुड़िया थी । मैंने अपना हाथ बढ़ाकर कहा—'जलधारा, यह गुड़िया मुझे दे दो ।'

वह मेरी पत्नी के कन्धे से चिपट गयी । मैंने फिर कहा—'लाओ ।'

अबकी बार वह गुड़िया को अपनी छाती से लगा कर ऊँ···ऊँ··· करने लगी ।

मेरी पत्नी ने कहा—'जब यह तुमसे नहीं बोलती तब उसे क्यों तङ्ग करते हो ?'

उनकी बात सुन कर मैंने जलधारा के गाल पर धीरे से एक चपत जमा दी । मेरी पत्नी ने उसे अपने वक्षस्थल में छिपाते हुए कहा—'न जाने कैसे आदमी हो ! उसे व्यर्थ ही में मार दिया ।'

मैंने कहा—'सो क्या हो गया ?'

उन्होंने इसका कोई उत्तर न देकर जलधारा के गालों पर हाथ फेरते हुए कहा—'देखो तो, मेरी बिटिया को मार दिया ! ले तू भी इनको मार दे ।'

उसने साहस कर मुझे मारने के लिए अपना हाथ बढ़ाया, किन्तु मैं पीछे हट गया । मेरी पत्नी ने उसका पक्ष लेकर कहा—'और उसको मार दिया सो कुछ नहीं ?'

मैंने कहा—'बहुत करोगी तो तुम्हें भी मार दूँगा ।' फिर मैंने जलधारा के प्रति कहा—'क्यों जलधारा मार दूँ ?'

मेरी बात सुनकर वह कभी तो मेरी ओर और कभी मेरी पत्नी की ओर देखने लगी ।

मैंने धीरे से अपनी पत्नी का मस्तक छू दिया । मेरा इतना करना था कि उस लड़की की आँखों में भय, क्रोध और ममता का एक सङ्ग ही संचार हो आया । पहले तो उसने मेरी ओर देखा, और फिर अपने दोनों नन्हें हाथों से अपनी छोटी बहू का मस्तक ढक लिया । वह हँसने लगीं । अबकी बार मैंने उन्हें सचमुच ही धीरे से एक चपत मार दी ।

'ऊँ··ऊँ···देखो तो बिटिया इन्होंने मुझे मार दिया है ।' उनका इतना कहना था कि जलधारा एकदम रो पड़ी । उसकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे ।

अपने को इस नयी परिस्थिति में पाकर मैं बहुत घबराया । मैंने मनाया, मेरी पत्नी ने भी मनाया, तब कहीं उसके कपोलों पर के आँसुओं के सूखने की नौबत आयी ।

प्रति दिन की भाँति सन्ध्या समय नाज़िरजी हमसे मिले। साथ में दो-चार और मित्र थे। इधर-उधर की बात-चीत होने के बाद जलधारा का ज़िक्र छिड़ गया। मैंने कहा—'वह तो हमेशा मेरे ही घर बनी रहती है।' नाज़िरजी बोले—'इसके लिए मैं आपको अथवा यों कहिये कि आपकी पत्नी को धन्यवाद देता हूँ। जब यह आगरे में थी तब अपनी चाची से बहुत हिली थी। घड़ी भर के लिए भी उनका साथ नहीं छोड़ती थी। उस दिन जब हम लोग आगरे से चले तब रास्ते-भर उनके लिए रोती आयी। यहाँ पर जब मेरी पत्नी ने आपकी पत्नी को देखा तब उसे चुप करने के लिए कह दिया—'लो जलधारा, वे हैं तुम्हारी छोटी बहू।'—बस उसी दिन से वह आपकी पत्नी को अपनी चाची समझने लगी, और अब देखो तो कभी साथ ही नहीं छोड़ती।'

उनकी बात सुनकर मेरे साथियों में से एक सज्जन बोल उठे—'आपकी पत्नी और जलधारा की चाची में कुछ समानता जान पड़ती है, नहीं तो छोटी लड़की ऐसी भूल नहीं करेगी।'

मैंने उत्तर दिया—'यह बात तो जलधारा से पूछूँगा।'

उसी समय जलधारा अपने घर से बाहर निकलती हुई दिखायी दी।

नाज़िरजी ने पुकार कर कहा—'इधर तो आओ बिटिया, देखो ये तुम्हें कब से बुला रहे हैं।' मैंने भी उसे बुलाया—'इधर आओ जलधारा!' वह आयी, किन्तु मेरे पास नहीं, अपने पिता के पास। वह आकर उनके पैरों के बीच में खड़ी हो गयी और मेरी ओर देखने लगी। नाज़िरजी ने फिर कहा—'उनके पास जाओ, वे तुम्हें बुला रहे हैं।

मैंने अपना हाथ बढ़ाकर कहा—'आओ।'

नाज़िरजी ने कहा—'अच्छा, जा इनके लिए एक पान बना ला।'

किन्तु वह अपनी जगह से नहीं हटी।

उन्होंने फिर कहा—'जाती नहीं ?'

अबकी बार वह मुँह बनाकर कहने लगी—'मैं नहीं जाती। इन्होंने एक दिन छोटी बहू को मार दिया था।'

उसकी बात सुनकर सब लोग हँस पड़े। मुझे भी हँसी आ गयी। मेरे मित्रों में से एक ने उसे गोद में उठा लिया और पूछा—'क्यों बिटिया, कब मार दिया था ?'

'आज।'

'कहाँ मार दिया था ?'

'यहाँ, यों मार दिया था।' कहकर उसने अपने गाल पर हाथ रखा और साथ ही मारने का ढँग भी बता दिया।

उसकी इस सरलता पर सब लोग हँस पड़े।

उनमें से एक दूसरे सज्जन को बिना बोले चैन न पड़ा। कहने लगे—'क्यों भाई, रिसाई में मारा था, या प्यार में ?'

मैं उनकी इस बात का उत्तर ही क्या देता !

(२)

किन्तु मैं अधिक दिनों तक नाज़िरजी के सहवास का आनन्द न लूट सका। नहर का काम समाप्त हो चुकने के बाद मुझे फिर झाँसी जाना पड़ा। मैंने अपना सामान पहले ही लदवा दिया था। सिर्फ़ अपने

और अपनी पत्नी के लिए एक गाड़ी रख छोड़ी थी। उस दिन हम दोनों ने नाज़िरजी के यहाँ ही भोजन किया। थोड़ी देर आराम करने के बाद चलने की तैयारी हुई। गाड़ीवान से बैल खोलने के लिए कहा गया और साथ ही मैंने जलधारा से अपनी छोटी बहू को बुला लाने के लिए कह दिया। वह दौड़ती हुई भीतर गयी। थोड़ी देर बाद भीतर से रोने की आवाज़ आने लगी। तब तक इधर गाड़ीवान ने बैल जोते। नाज़िरजी की पत्नी दरवाज़े तक मेरी पत्नी को पहुँचाने आयीं। उस समय शायद दोनों के आँसू सूख गये थे, किन्तु जलधारा अब भी मेरी पत्नी की गोद में फुसक-फुसक कर रो रही थी! वह जलधारा को लेकर गाड़ी में बैठीं, और गाड़ी चल दी। नाज़िरजी थोड़ी दूर तक मेरे साथ चलने को तैयार हुए। हम लोग रास्ते-भर बहुत-सी बातें करते गये। जलधारा भी गाड़ी के भीतर बैठी हुई अपनी छोटी बहू से बातें कर रही थी। मैंने कहा—'जलधारा, अपने घर न जाओगी?'

'नहीं, मैं तो अपनी छोटी बहू के साथ जाऊँगी।' मेरी पत्नी के सिखाने से उसने धीरे से यह बात कह दी।

मैंने फिर कहा—'मैं तुम्हें नहीं ले जाऊँगा।'

उसने कहा—'तुम्हारे साथ जाता ही कौन है?'

मैं चुप हो गया। नाज़िरजी बातें करते-करते बहुत दूर निकल आये थे, इसलिए मैंने कहा—'अब आप क्यों व्यर्थ में कष्ट उठाते हैं। लौट जाइये।'

'अच्छी बात है' कहकर उन्होंने जलधारा को पुकारा।

मैंने अपनी पत्नी को धीरे से कहते हुए सुना, 'कह दो, नहीं आती।'

मैंने उनकी बात अनसुनी करके गाड़ीवान से गाड़ी खड़ी कर देने के लिए कहा। फिर जलधारा से कहा—'जलधारा, बाबू चले, फिर तुम अकेली रह जाओगी।'

वह झट से बाहर निकल आयी और अपने पिता की गोद में चली गयी। उन्होंने उसको पुचकार कर कहा—'छोटी बहू दो-तीन दिन में लौट आयेंगीं। फिर हम और तुम दोनों उनके साथ चलेंगे।'

नाज़िरजी लौट गये। मैं गाड़ी के भीतर बैठ गया। उस समय मेरी पत्नी रो रही थीं।

(४)

मुझे झाँसी रहते बहुत दिन हो गये। नाज़िरजी के पत्र आते और प्रत्येक पत्र में वे लिखते, 'जलधारा छोटी बहू के लिए रोती रहती है।' पढ़कर हृदय से एक आह निकल पड़ती, आँखें अपने आपही गीली हो जातीं। मैं उस पत्र को फाड़कर फेंक देता। सोचता, क्या उन्हें मालूम नहीं? किन्तु उन्हें मालूम कैसे होता? मैंने तो इस सम्बन्ध में उन्हें कुछ लिखा ही नहीं। अचानक एक दिन मुझे उनका एक पत्र मिला। उसमें उन्होने झाँसी के लिए अपनी बदली हो जाने की ख़बर लिखी थी। पढ़ कर मुझे कुछ अधिक प्रसन्नता नहीं हुई। उसके आगे ही लिखा था, 'जलधारा ने जब से सुना है कि वह झाँसी में छोटी बहू से मिलेगी तब से वह खाना-पीना भूल-सा गयी है।' मैंने पत्र को फाड़कर एक ओर फेंक दिया। जलधारा का नाम पढ़कर न-जाने क्यों मुझे किसी की याद आ

जाती। नाज़िरजी झाँसी आयेंगे। उनकी पत्नी मेरे घर उतरेंगी, जलधारा उनकी गोद से उछलकर 'छोटी बहू, छोटी बहू' चिल्लाती हुई घर के भीतर दौड़ेगी। तब जलधारा की मा से क्या कहूँगा, और क्या कहूँगा जलधारा से ? मैंने नाज़िरजी के उस पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया। घर में ताला डालकर बाहर देहात में चक्कर लगाने चला गया। कोई दस दिन बाद झाँसी वापिस आया। झाँसी आकर एक दिन सन्ध्या समय नाज़िरजी की याद में घर से बाहर निकला। रास्ते में ताँगे, इक्के और बग्घियाँ दौड़ रही थीं। मैं कई बार उनसे टकराते-टकराते बच गया। मैं सोचता जा रहा था, 'नाज़िरजी से भेंट होने पर उनसे क्या कहूँगा ? वे कहेंगे, 'तुमने मुझे ख़बर तक न दी !' किन्तु मैं उन्हें ख़बर देकर क्या करता ?' इसी समय सड़क के किनारे धूल में खेलती हुई एक लड़की पर मेरी दृष्टि पड़ी। मैं वहीं ठिठककर रह गया।......'कौन ? जलधारा !' उसके सारे बदन में धूल लगी हुई थी। बाल सूखे और बिखरे हुए थे। मैंने पहचान नहीं पाया। वह ज़लधारा थी। इच्छा न होते हुए भी मैं उसकी ओर अग्रसर हुआ। उसको गोदी में उठा लिया। वह भौंचक-सी हो मेरी ओर देखने लगी। फिर कुछ मुस्करा दी। मैंने कहा—'जलधारा, मुझे पहचानती हो ?

'ऊँ हूँ !' और वह मेरे पास दौड़ आयी।

बैठक के किवाड़ खुले थे, उसे लेकर मैं वहीं चला गया।

'नहीं पहचानतीं ?'

'हाँ, तुम वहाँ रहते थे।'

'कहाँ ?'

'वहीं, छोटी बहू के यहाँ।'

मैंने फिर पूछा—'तुम कब आयीं ?'

'कल।'

'बाबूजी कहाँ गये ?'

'छोटी बहू को ढूँढ़ने के लिए गये हैं।'

'अच्छा चलो, मैं तुम्हें छोटी बहू के पास ले चलूँ।'

'छोटी बहू, छोटी बहू कहाँ ?'

'मेरे घर—

मेरी बात समाप्त होने के पहले ही वह घर के भीतर भागी और अपनी मा से चिल्लाकर बोली—'अम्मा, मैं छोटी बहू के पास जाऊँगी। मुझे कपड़े पहना दो।'

सहसा मुझे होश आया। हाय! मैंने उससे क्या कह दिया? तुम्हें छोटी बहू के पास ले चलूँ क्यों कह दिया? मालूम नहीं!

मैंने उसकी मा को कहते हुए सुना—'दुत, अभी किसके साथ जायगी। मेरे साथ चलना।'

मेरा माथा घूम गया। जलधारा की मा छोटी बहू के पास जायँगी! कहाँ? उस स्थान की खोज में तो मैं स्वयम् हूँ। जलधारा ने कहा—'दादा के साथ जाऊँगी।' सुनकर मेरी आँखों के सामने आँसुओं का परदा छा गया। मैं वहाँ और अधिक देर तक न ठहर सका। चुपचाप बाहर चला आया, और फिर कभी उस गली में होकर नहीं निकला।

———

प्रतिघात



मई का महीना था और १८५७ का सन्। कानपुर, लखनऊ और देहली के भयंकर विद्रोह की ख़बर जब झाँसी पहुँची, तब उस समय वहाँ ब्रिटिश सरकार की ओर से हिन्दोस्तानी सेना का प्रवन्ध था। इस सेना के मुख्याधिकारी कैप्टेन डनलप थे। उन्हें अपनी सेना के सिपाहियों पर पूरा विश्वास था। उनके द्वारा झाँसी में किसी प्रकार का उपद्रव हो सकता है, इसका उन्हें स्वप्न में भी ख़याल नहीं था। किन्तु जिस दिन सातवीं पैदल पलटन के गुरुबख़्श नाम के एक हवलदार ने कुछ आदमियों को साथ लेकर 'स्टार फ़ोर्ट' में प्रवेश किया, और वहाँ के गोला-बारूद पर अपना अधिकार जमा कर विद्रोह का झंडा खड़ा किया, तब कैप्टेन साहब के होश उड़ गये। उन्होंने अपनी बची-बचायी फ़ौज लेकर 'स्टार-फ़ोर्ट' पर धावा करने का निश्चय किया। परन्तु वहाँ लड़ाई का सब सामान और ख़ज़ाना विद्रोहियों ने पहले ही अपने अधीन कर लिया था। वहाँ के पहरेवाले भी विद्रोहियों में शामिल हो गये थे। इस प्रकार के भयानक चिह्न देख कर झाँसी के अँगरेज़ अधिकारियों को

अपने स्त्री-बच्चों को बचाने की चिन्ता हुई। कमिश्नर स्कीन ने उन सबको क़िले के भीतर बन्द कर देना उचित समझा। उनकी सूचना के अनुसार सब अँगरेज़ छावनी से निकल कर शहर में आये और क़िले के फाटक पर पहुँच गये। उनमें लौरीमर नाम का एक फ़ौजी अफ़सर भी था। वह कैप्टेन डनलप का सहकारी था। विद्रोहियों से भय खाकर क़िले के भीतर छिपने नहीं, वरन् अपनी पत्नी और बच्चे को सुरक्षित अवस्था में क़िले तक पहुँचाने आया था। क़िले का फाटक खुल गया था। लौरीमर अपनी पत्नी से विदा ग्रहण करने उसके सम्मुख पहुँचा। वह अपने बच्चे को छाती से चिपकाये चुपचाप खड़ी आँसू बहा रही थी। लौरीमर उसके कन्धे पर हाथ रख कर बोला—'छिः, रोती हो!'

उसने खिसकते हुए कहा—'तुम यहाँ नहीं रहोगे?' लौरीमर ने उसके अश्रुसिक्त कपोलों पर हाथ फेर कर कहा—'प्रिये! यह कैसे हो सकता है? सेना बाग़ी हो गयी है। मेरा बाहर रहना आवश्यक है।'

उसकी पत्नी ने उसकी ओर देखकर कहा—'तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।'

पत्नी के इस विलक्षण अनुरोध को सुन कर लौरीमर के होठों पर मुसकराहट खेल गयी। बोला—'ख़ूब! विद्रोह का ज़माना है। तुम मेरे साथ कहाँ मारी-मारी फिरोगी?'

पत्नी ने कहा—'क्यों, क्या तुमने मुझे घोड़े की सवारी नहीं सिखायी?'

'घोड़े की सवारी सीख लेने से क्या होता है? तुम्हारा सुकुमार शरीर विद्रोह की आँच नहीं सह सकेगा।'

उसकी पत्नी ने अपने स्वामी के गले से लिपट कर कहा—'प्रियतम, तुम्हारे वियोग की आँच तो उससे भी भीषण है।'

लौरीमर ने अपनी स्नेहमयी पत्नी का माथा चूम लिया। फिर उसकी कमर में हाथ डाल कर स्नेहार्द्र स्वर में बोला—'तुम तो मेरे साथ चलोगी, किन्तु ऐसे भयानक समय में जोन की रक्षा का क्या प्रबन्ध होगा?'

सुन कर वह चुप हो गयी। पुत्र के कल्याण की छाया में माता का पति-वियोग हलका पड़ गया। इस समय फाटक पर खड़े हुए सार्जेन्ट ने लौरीमर की ओर देखा। लौरीमर उसका आशय समझ गया। जल्दी से अपनी पत्नी का हाथ चूम कर बोला—'देखो, और सब साथी भीतर चले गये, तुम भी जाओ। ईश्वर ने चाहा, तो शीघ्र ही मिलूँगा। अच्छा विदा।'

पत्नी ने रुद्ध-कंठ से कहा—'विदा।'

लौरीमर ने मुँह फेर लिया। उसका एक साल का छोटा पुत्र, जोन अपनी स्निग्ध नीली आँखों से टुकुर-टुकुर उसकी ओर देखने लगा। पुत्र की उन आँखों में करुणा का सजल भाव देख कर मा रो पड़ी। उसने एक हाथ से लौरीमर का कोट पकड़ कर कहा—'लौरी! लौरी!! एक बार मेरी ख़ातिर जोन को और चूम लो।''

'ओफ़!' कह कर लौरी ने जोन और जोन की मा, दोनों को चूम लिया।

क़िले का फाटक बन्द हो गया। लौरीमर घोड़े पर सवार होकर छावनी में चला आया।

(२)

दूसरे दिन झाँसी की स्थिति सहसा बड़ी भयानक हो गयी। बलवाइयों की एक टुकड़ी ने अँगरेज़ी छावनी पर धावा बोल कर कैप्टेन डनलप और टेलर साहब को गोली से मार डाला। उनका मुक़ाबला करने में लौरीमर को भी गोली लगी। गोली खाकर वह सड़क के किनारे एक खाई में गिर पड़ा, इसलिए विद्रोहियों की नज़र से बच गया। चोट संघातिक नहीं थी, इसलिए उसके प्राण भी बच गये।

इस समय जो अँगरेज़ अफ़सर अपनी प्राण-रक्षा के लिए क़िले में भाग गये थे, उनकी संख्या लगभग ४५ के थी। कमिश्नर स्कीन ने इन लोगों को बन्दूक़, गोली, बारूद आदि देकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए तैयार रक्खा। क़िले के दरवाज़े मज़बूती से बन्द कर दिये गये। कमिश्नर ने नागौद, ग्वालियर आदि स्थानों से अपनी सहायता के लिए सेना माँगी थी, परन्तु सात जून तक कहीं से कुछ मदद न पहुँची। उसी दिन दोपहर को विद्रोहियों ने क़िले पर आक्रमण कर दिया। अँगरेज़ों ने बड़ी बहादुरी से उनका सामना किया। किन्तु एक विद्रोही की गोली से गार्डन नाम के एक अफ़सर के मर जाने से क़िले में हलचल मच गयी। सब लोग अधीर और हताश होने लगे। अन्त में जब गोली-बारूद चुक गयी तो लाचार होकर उन्हें सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा।

दूसरे दिन सवेरे स्कीन साहब क़िले का फाटक खोल कर बाहर आये। बाग़ियों के प्रतिनिधि ने उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया कि यदि वे लोग हथियार रख दें, और क़िले को ख़ाली कर दें, तो उन्हें किसी प्रकार का दुःख न दिया जायगा। ज्यों ही अँगरेज़ लोग निहत्थे होकर क़िले से नीचे उतरे, त्यों ही बाग़ियों ने 'दीन-दीन!' की प्रचंड गर्जना करके उनको घेर लिया। बाग़ी उनको क़ैद करके शहर में से घुमाते हुए झोखन बाग़ की ओर ले गये। वहाँ पहुँचते ही ख़बर आयी कि रिसालदार की आज्ञा से इन सब लोगों का वध किया जाना चाहिए। उस समय क़ैदियों के साथ आठ ही दस सिपाही थे। सब के सब उन निहत्थे क़ैदियों पर टूट पड़े। अँगरेज़ पुरुष, स्त्री और बच्चों का वध होने लगा। उनमें से एक ने अन्तिम बची हुई युवती पर अपनी तलवार उठायी ही थी कि किसी ने पीछे से ललकार कर कहा—'ख़बरदार!' किन्तु ख़ून की प्यासी तलवार युवती के गले के नीचे उतर चुकी थी। उसके बाद सिपाही ने गर्दन फेरी। अपने सामने एक अँगरेज़ सिपाही की भयंकर मूर्ति देखकर वह काँप गया। वह लौरीमर था, नंगे सिर, बाल बिखरे हुए, साँस ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी। ख़ाकी कमीज़ पर ख़ून के पुराने कत्थई रंग के दाग़ थे, हाथ में नंगी तलवार थी, आँखों से आग बरस रही थी। अभी कुछ देर पहले वह विद्रोहियों की नज़र से बच कर कैम्प में अपने बायें कन्धे की गहरी चोट पर पट्टी बाँधे पड़ा था। उसी समय किसी ने उसे ख़बर दी कि बाग़ियों ने क़िले पर अधिकार जमा लिया है। सुन कर वह चारपाई पर से उछल पड़ा। उसके चोट

खाये हुए दुर्बल शरीर में न जाने कहाँ से दौड़ने का बल आ गया। वह खूँटी पर टँगी हुई तलवार उठा कर क़िले की तरफ़ दौड़ा; किन्तु बीच ही में झोखन-बाग़ के निकट उस भीषण हत्याकांड को देख कर वह काँप गया। उसे समझते देर नहीं लगी कि ये सब क़िले के भीतर के अँगरेज़-क़ैदी हैं।

'ओफ़! इतनी जल्दी!'—वह ठीक उस समय घटनास्थल पर पहुँचा, जब अन्तिम क़ैदी का मस्तक धड़ से अलग होकर ज़मीन पर लोट रहा था। बायें हाथ से माथे के स्वेद-बिन्दुओं को पोंछते हुए चारों तरफ़ नज़र दौड़ायी। कोई भी न था! केवल उसके सामने मृत अँगरेज़ स्त्री-पुरुषों की लाशें पड़ी तड़प रही थीं। वह क्षण-भर तक उन्हीं की ओर देखता खड़ा रहा। सहसा उसके चेहरे का भीषण भाव करुण क्रन्दन में बदल गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोला —'एंजेलिका! प्यारी एंजेलिका! यदि मैं ऐसा जानता, तो क़िले के फाटक को छोड़ कर छावनी में कदापि न जाता। किन्तु मैं तो मूर्ख था, कायर था; उस ज़रा-सी चोट के कारण शत्रुओं से मुँह छिपा कर कैम्प में पड़ा रहा। तुम्हें क़िले में सुरक्षित जान कर तुम्हारी कुछ परवाह भी न की। हाय! अन्तिम समय मुझे अपने सामने न देख तुम्हारी क्या दशा हुई होगी! किन्तु मुझे क्या पता था कि क़िले के फाटक पर की वह भेंट आख़िरी भेंट होगी। हाय! मैं तुमसे भली-भाँति मिल भी न पाया!' इस प्रकार विलाप करता हुआ वह सामने पड़ी लाशों में एंजेलिका का शव ढूँढ़ने लगा। इतने में सहसा एक साथ कई तोपों के दग़ने की आवाज़ सुन कर वह चौंक

पड़ा। ऐसा धड़ाका हुआ, मानों क़िले की दीवारें उड़ गयी हों। उसने ऊपर देखा—क़िले की बुर्जों पर धुआँ छाया हुआ था, और उस धुएँ में होकर बहुत से लोग जल्दी-जल्दी इधर से उधर चल-फिर रहे थे। विद्रोहियों ने विजय की ख़ुशी में तोपों की सलामी दी थी, यह उसी का धुआँ था। लौरीमर थोड़ी देर के लिए एंजेलिका का शव ढूँढ़ना भूल गया। इतने में उसने दरवाज़े के भीतर से विद्रोहियों का एक बड़ा झुण्ड अपनी तरफ़ आते देखा। सब के सब सशस्त्र थे और तुमुल कोलाहल के साथ चिल्लाते आ रहे थे—'ख़लक ख़ुदा का, मुलक बादशाह का, अमल महारानी लक्ष्मीबाई का!' लौरीमर घबरा गया। उसने नैराश्य-पूर्ण दृष्टि से लाशों के ढेर की ओर देखा—'ओह! ग़ज़ब ख़ुदा का! विधर्मी अभी आकर इसके शरीर को अपवित्र करेंगे। एंजेलिका! प्यारी एंजेलिका! सोओ, सुख से सोओ! यदि तुम्हारे शरीर के एक-एक रोम के बदले में एक-एक झाँसी निवासी का सिर न काटा, तो तुम समझना कि मैंने तुम्हें प्यार नहीं किया। इस समय उपयुक्त अवसर नहीं। मैं एक हूँ, वे अनेक हैं। मैं जाऊँगा! प्यारी! क्षमा करना। वे लोग निकट हैं। प्रभु मसीह तुम्हें शान्ति-प्रदान करें।' यों कह कर वह झोखन-बाग़ की झुरमुटों में न जाने कहाँ ग़ायब हो गया।

(३)

झाँसी पर अँगरेज़ों के दाँत तो लगे ही थे। झोखन-बाग़ की इस घटना से उन्हें और भी मौक़ा मिल गया। विद्रोह का दमन करने के लिए उन्होंने बड़ी तैयारी की। विलायत से सर ह्यूरोज़ को बुलवाया गया

एक बड़ी सेना लेकर उसने झाँसी पर चढ़ाई कर दी। उस समय तक महारानी ने युद्ध की कुछ भी तैयारी नहीं की थी। परन्तु जब उन्होंने सुना कि अँगरेज़ी-सेना हमें विद्रोही समझ कर झाँसी पर चढ़ाई करने आयी है, तब वह बड़ी कुपित हुईं। उन्होंने अँगरेज़ों से युद्ध करने का निश्चय कर लिया। २३ मार्च को युद्धारम्भ हुआ। कैप्टेन ह्यूरोज़ की सेना झाँसी के आस-पास के सब मैदानों में और छोटी-छोटी पहाड़ियों पर घेरा डाले पड़ी थी। इस सेना ने लगातार आठ दिन तक झाँसी पर भयंकर गोले बरसाये। किन्तु एक अबला ने अपने अद्वितीय धैर्य और अद्भुत रण-कौशल के बल से ११ हज़ार सैनिकों की शक्ति लेकर ब्रिटिश सेना के अधिनायक के छक्के छुड़ा दिये। वह घबरा गया। उसकी गोला-बारूद चुक गयी थी। इसी समय झाँसी के दुर्भाग्य से या ह्यूरोज़ के सौभाग्य से तांतिया टोपी बेतवा के युद्ध में अँगरेज़ो से हार गया। उस युद्ध में बहुत-सी तोपें, गोला-बारूद और अन्य युद्ध-सामग्री ह्यूरोज़ के हाथ लग गयी। इस नयी शक्ति को लेकर उसने उसी दिन रात में धावा बोल दिया। शहर की दीवार टूट गयी। ब्रिटिश-सैनिक महारानी की सेना के भीतर पिल पड़े।

शत्रु की सेना का स्वागत करने के लिए क़िले पर की भवानीशंकर, कड़क-बिजली, घनगरज आदि तोपें भैरव नाद करके गरज उठीं। नगर पर आग की लाल चादर फैल गयी। धुआँ और धूल का घटाटोप छा गया। ऐसा भासित होता था कि झाँसी थोड़ी देर में ही उस धुएँ और धूल के साथ आकाश में उड़ जायगी। ब्रिटिश सेना के सिपाही हज़ारों

की संख्या में भीतर घुस आये थे। उन्होंने घरों में आग लगाना आरम्भ कर दिया। आग की लपटें सर्प-जिह्वा की तरह लप-लप करती चारों ओर फैल गयीं। किन्तु उस समय गोरे सिपाहियों के हृदय में इस अग्नि से भी भीषण एक आग जल रही थी। उन्होंने खुली सड़कों पर पहुँच कर 'विजन' बोल दिया। ख़ून की प्यासी तलवारें ग्रीष्म के प्रखर तेज में चम-चम करके चमक उठीं। मृत्यु पागल बनकर एक घर से दूसरे घर में दौड़ने लगी। उसकी अगवानी के लिए सड़कें मानों ख़ून से सिंच गयीं।

किन्तु गोरे सैनिकों के एक अफ़सर ने मानिक-चौक में जो भीषण मार-काट और उथल-पुथल मचा रक्खी थी, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। दुःख के कारण चारों ओर कोलाहल और हाहाकार मच रहा था। उसने वहाँ की सड़कों को लाशों से बिछा दिया था। उसकी तलवार, उसके हाथ, उसकी ख़ाकी वर्दी, उसका सारा शरीर रुधिर से भीग रहा था। उसकी आँखें सूर्य के प्रकाश में जल रही थीं, चेहरा सुर्ख़ हो गया था। लोगों को वह साक्षात् यम जान पड़ता था। जो कोई उसके सामने आया, वही मृत्यु के घाट उतर गया। तिराहे पर कुछ लोगों ने एकत्र होकर बड़े नम्र भाव से कहा—'हम लोग इस शहर के निवासी हैं; पर लड़ने वाले विद्रोही नहीं। हम निरपराध प्रजा हैं आप कृपा करके हमें प्राणदान दीजिये।' उन लोगों की ऐसी कातरवाणी सुन कर एक दूसरे गोरे अफ़सर को दया आयी। उसने चिल्ला कर कहा— 'लौरीमर! लौरीमर!! यह क्या करते हो? ईश्वर के लिए इन लोगों

को प्राण-दान दो। तुम तो इन्हें भेड़-बकरियों की तरह काट रहे हो। छोड़ दो, जाने दो। वे निरपराध हैं।'

लौरीमर ने घूम कर कहा—'ओफ़ ! मुझे मत छेड़ो। मैं इस समय ब्रिटिश-सेना का सिपाही नहीं हूँ। तुम्हारा लेफ्टिनेन्ट भी नहीं हूँ। आज दस महीने से मेरे हृदय के भीतर जो भीषण आग जल रही है, उसको शान्त करने के लिए एक दो नहीं, सैकड़ों झाँसी-निवासियों का ताज़ा रुधिर चाहिए। नहीं तो उस हृदय की आग में मैं आप ही दग्ध होकर मर जाऊँगा। ओफ़—'

सहसा वह रुक गया। किसी के रोने की बहुत ही बारीक और करुण आवाज़ उसके कान में पड़ी थी। यह आवाज़ अवश्य किसी रमणी की थी। उसने घोड़े की लगाम खींच कर ऊपर सब तरफ़ नज़र दौड़ायी। आवाज़ आग की लपटों से घिरी हुई, एक ऊँची हवेली की दूसरी मंज़िल से आ रही थी। हवेली में एक छोटी खिड़की धुएँ से बिलकुल ढक गयी थी। उसके बीच में होकर उसने एक अँगरेज़ युवती के सफ़ेद वस्त्रों की झलक देखी। हवेली के नीचे बहुत से ब्रिटिश-सैनिकों को खड़ा देख वह चिल्ला उठी—

'ओह ! मुझे बचाओ। अब भी बच सकती हूँ। नहीं तो मैं मरी। मैं अँगरेज़-महिला हूँ। विद्रोहियों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। ओह ! तुम लोग खड़े देख रहे हो। पिछली जून के बलवे में महारानी के आदमियों ने बलवाइयों के हाथ से मेरी रक्षा की थी। दया करके मुझे यहाँ स्थान दिया था। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ विद्रोह से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मेरे

नौकर मुझे बन्द करके भाग गये हैं। कहीं निकलने का रास्ता नहीं। ओह! मैं मरी! कम से कम मेरे इस बच्चे को बचा लो। आह! नहीं तो तुम्हें एक अँगरेज़-महिला और उसके बच्चे के ख़ून का पाप लगेगा।'

लौरीमर काँप गया। यह कौन है? इतना मीठा और करुणाजनक स्वर और किसका हो सकता है? उसने युवती को आश्वासन देते हुए कहा—'ठहरो, हम लोग आते हैं।' उसी समय सहसा वायु का एक झोंका आया। खिड़की पर से धुँएँ का परदा हट गया। युवती झपट कर सीकचों के पास आयी, और अपने दोनों हाथ लौरीमर की तरफ़ फैला कर बोली—'लौरीमर। डियर लौरीमर!!'

लौरीमर चौंक पड़ा। अग्नि के इस प्रलय-कांड में अमृत की बूँदें कहाँ से बरसीं? उसने ऊपर देखा। अग्नि-शिखाओं से घिरी हुई एंजेलिका कातर भाव से उसकी ओर देख रही है। वह चिल्लाया—'एंजेलिका! तुम यहाँ कहाँ? कूद पड़ो। वहाँ से कूद पड़ो। देखो, तुम्हारे बालों और कपड़ों से आग छू गयी है। वहाँ से कूद पड़ो।'

एंजेलिका ने क्षीण स्वर में कहा—देखते नहीं, सीकचे लगे हैं।'

लौरीमर घोड़े से नीचे कूद कर दरवाज़े की ओर झपटा, और पागलों की भाँति दाँत पीस कर लात, घूँसों और सिर से किवाड़ पीटने लगा। उसके सैनिक भी दरवाज़े पर पड़े हुए लोहे के ताले को तोड़ने की कोशिश करने लगे।

तब तक आग ने और भी भीषण रूप धारण कर लिया। एंजेलिका का सर्वाङ्ग झुलस उठा। बदन का गोरा रंग सूर्य की अन्तिम लालिमा

की तरह उड़ चला। अश्रुपूर्ण नेत्रों से लौरीमर को देखते हुए उसने कहा—'आह! लौरी, मेरा हृदय जल रहा है।'

एक साथ कई ब्रिटिश-सैनिकों के आघात को सहन न कर सहसा दरवाज़ा चरमरा कर चौखट-समेत अलग जा गिरा। लौरीमर हवेली के अँधेरे घर के भीतर औंधे मुँह गिरते-गिरते बचा। 'एंजेलिका, मैं आया।' कह कर वह तीर की तरह भीतर घुसता चला गया। सीढ़ियाँ चढ़ कर ज़ीने पर पहुँचा। कोठे की कुंडी चढ़ी थी। उसे खोल कर वह एक ही छलाँग में एंजेलिका के सामने पहुँच गया।

वह उस समय दाह की वेदना से ज़मीन पर पड़ी तड़प रही थी। मृत्यु के हाथ से बचने का वह अन्तिम प्रयास था। लौरीमर को देख उसने अपने शिथिल बाहुद्वय उसकी ओर फैला दिये। उसकी छाती से लगा हुआ मांस का एक लोथड़ा ज़मीन पर गिर पड़ा। वह जोन था। लौरीमर ने उसको नहीं देखा। वह एंजेलिका से लिपट गया, रुँधे हुए कंठ से बोला—'एंजेलिका, क्षमा!'

'ओह!' वह इससे अधिक और कुछ नहीं कह पायी। बाहर खड़े हुए ब्रिटिश-सैनिकों ने मकान के जलते हुए छप्पर को गिरते देखा। उसके साथ दुमंज़िले की छत धसक कर नीचे जा रही। दूसरे दिन कुछ गोरे सिपाहियों ने प्रतिशोध की आग में भस्मीभूत हुई उस हवेली में अपने लेफ़्टिनेन्ट का शव ढूँढ़ा। कुछ अस्थियाँ मिलीं, जिन्हें उन्होंने बड़ी धूमधाम से एक समाधिस्थल में गाड़ दिया।

राजा के सींग

मेरी दादी एक कहानी कहा करती थीं। और अब वे नहीं हैं तो वह कहानी मुझे अकसर याद आ जाती है।

एक था राजा। उसके सिर पर थे दैवयोग से दो सींग। परन्तु रानी के सिवा उन्हें आज तक और किसी ने नहीं देखा था। राजा सदैव उन्हें एक मोटी पगड़ी से ढके रहता था। जब ज़रूरत होती तो पगड़ी अकेले में उतारता, अकेले में ही नहाता, और अकेले में ही कपड़े बदलता।

इस तरह और तो सब ठीक था। परन्तु बाल कटवाये बिना तो काम नहीं चलता था। साल में एकाध मर्तबा तो कटवाना ही पड़ते थे। और फिर दाई से जैसे पेट नहीं छिपता वैसे ही किसी के सिर पर अगर सींग हैं तो नाई उन्हें देखेगा ही। इसलिए एक तो राजा बाल बहुत कम कटवाता था और फिर जो नाई उसके बाल काटने आता वह फिर महल से बाहर नहीं जा पाता था। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी। शहर के सब नाई यह बात जानते थे। इसलिए उनके मन पर

एक अजीब आतंक छाया रहता था। कोई खुशी से राजा के बाल काटने न जाता। वर्ष छः महीने में जब ज़रूरत होती तब ज़बरदस्ती ही पकड़ कर ले जाना पड़ता था।

एक बार क्या हुआ कि कहीं बाहर का एक नाई अपनी रिश्तेदारी में वहाँ आया। औज़ार लिए सड़क पर जा रहा था कि राजा के सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया। बेचारा बड़ी मुसीबत में पड़ गया। उसे मालूम था कि जो नाई इस राजा के बाल काटने गया, वह कभी ज़िन्दा लौट कर नहीं आया। इसलिए उसने सभी तरकीबें लड़ायीं। बल प्रयोग भी किया। हाथ भी जोड़े। रोया भी। परन्तु कुछ नतीजा नहीं निकला। तब लाचार उसने अपने को भाग्य के अधीन कर दिया। सोचने लगा—'आखिर मरना तो एक दिन है ही। इस तरह ही अगर मरना है तो यही सही। आखिर यह भी तो देखा जाय कि ऐसी बात क्या है कि राजा के सिर के बाल काटे जाँय, और बदले में नाई को कटवाना पड़े अपना पूरा सिर।'

सिपाहियों से घिरा वह राज-महल के उस कमरे में पहुँचा जहाँ राजा अपने बाल कटवाया करता था। सबसे अलग एकान्त में एक कमरा था, जिसकी सब खिड़कियाँ बन्द थीं। 'आया था अपने रिश्तेदार से मिलने और फँस गया इस मुसीबत में'—नाई इसी तरह की कुछ बात सोच रहा था कि राजा भीतर आया। भीतर आकर उसने स्वयम् दरवाज़ा बन्द कर दिया। 'महाराज की जय हो!' कह कर नाई ने उसे हाथ जोड़े।

'बाल तुम ठीक काटते हो ?'

'जी ।'

पत्थर की एक चौकी थी, जिस पर महाराज बैठ गये। फिर वही प्रश्न किया—'तुम्हें बाल काटना आता है ?'

'जी, महाराज, नाई हूँ। पीढ़ियों से यही काम होता है। और अपने यहाँ अपने राजा के बाल मैं ही काटता हूं।'

'अच्छा, तो तुम्हारा घर यहाँ नहीं है ? तुम यहाँ बाहर से आये हो ?'

'जी, सड़क पर जा रहा था कि सिपाहियों ने मुझे पकड़ लिया।'

'अच्छा, फिक्र मत करो' और जैसे बहुत गम्भीर हो कर उसने अपनी पगड़ी उतारी, और नाई ने अपनी कैंची सँभाली कि सहसा उसके हाथ जहाँ के तहाँ रह गये, ओंठ अपने आप दाँतों तले दब गये और आँखें ऐसी स्थिर कि बस पूछो नहीं ! पसीने से सराबोर ! राजा ने—(जब नया नाई बाल काटने आता तभी उसका यह हाल होता था) किसी तरह नाई का विस्मय भंग किया। कहा देखते क्या हो। वह भी कोई देखने की चीज़ है। चुपचाप अपना काम करो।

'महाराज की जो आज्ञा।' कह कर उसने औज़ार सँभाले। उसकी आँखें कहीं उसे धोखा तो नहीं दे रही हैं, यह निश्चय करने के लिए राजा के सिर के दोनों तरफ़ कानों की जड़ के पास से फूट निकले हुए उन दो नुकीले सींगों को उसने कई बार आहिस्ता से हाथ से टटोल कर देखा। फिर देखा और फिर टटोला और जब उसे निश्चय हो गया कि

ये सींग ठीक उसी तरह के हैं जैसे बछड़े के होते हैं तो उसका कुतूहल मानों और गम्भीर हो गया। क्योंकि उसकी समझ में आ गया कि राजा के बाल काटने के बाद नाई यहाँ से ज़िन्दा बाहर क्यों नहीं जा पाता।

और ज्यों ही उसने बाल काट कर ख़तम किये कि वह राजा के पैरों पर गिर पड़ा और रोने लगा और रोते हुए बोला—'महाराज मैं शपथ खाकर कहता हूँ, बाहर किसी से भी यह बात नहीं कहूँगा। लड़के की शपथ खाकर कहता हूं। मुझे मारिये मत। उससे आपको क्या मिलेगा? जब कि मैं कहता हूँ कि सींगों की बात किसी से कहूँगा नहीं।'

राजा ने डपट कर कहा, 'चुप रहो। मेरी आज्ञा टल नहीं सकती। नाई यहाँ से कभी ज़िन्दा बाहर नहीं गया।'

नाई बोला—'महाराज आप मुझे मरा हुआ समझ लीजिये। एक दम मरा हुआ। मैं लड़के की क़सम जो खा रहा हूँ। सच मानिये, मुझे कितने राजा रईसों के बाल काटने जाना पड़ता है। कितने बड़े घरों के रहस्य मुझे मालूम हैं। उनको मैं बताता फिरूँ तो फिर एक दिन भी ज़िन्दा न रहूँ। और महाराज अपराध क्षमा हो। यह तो कोई अजीब बात नहीं है। मैं सामुद्रिक नहीं जानता। वरना मैं आपको बताता कि यह ज़रूर महापुरुषों का कोई लक्षण होगा—

महाराज उसे डाट नहीं सके। नाई कहता गया—'और महाराज, मैं क्या बताऊँ? ये सींग मैंने आपके ही देखे हैं, सो बात नहीं। अपनी ज़िन्दगी में मैंने बड़े-बड़े राजा रईसों के बाल काटे हैं! यहीं आपके

पड़ोसी एक राजा हैं। नाम नहीं बताऊँगा हुजूर, उनके सिर पर भी बीचोंबीच ठीक ऐसा ही सींग है। मगर वह एक है। मैंने क़सम खा रक्खी है उनसे, वरना आपको नाम भी बता देता। और उस रहस्य को मैं ही अकेला जानता हूँ! क्योंकि जब कभी उन्हें बाल कटवाने की ज़रूरत होती है तब वह मुझे ही बुलवाते हैं। इसलिए महाराज, मुझे प्राणदान दें। घर में मैं अकेला हूँ, स्त्री है और एक बच्चा है। वे मेरे बिना भूखों मर जायेंगे।'

'इसकी फ़िक्र तुम मत करो, उनका राज्य की ओर से सब प्रबन्ध हो जाता है', राजा ने कहा।

नाई बोला—'किन्तु महाराज, मैं आपके राज्य का वासी नहीं हूँ। और फिर ऐसी बात क्या कि मेरा सिर काटने के बाद ही आपको यह निश्चय होवे कि आपका भेद किसी को मालूम नहीं होगा। अगर कहीं मैं भूत हो गया महाराज, तो मैं आपको क्या बताऊँ। ज़िन्दगी में आज तक ऐसी कोई बात नही हुई जो मैंने अपनी स्त्री से छिपायी हो। इसलिए ज़िन्दा रहने पर तो यह सम्भव भी है, परन्तु भूत को तो मैं भी नहीं रोक सकूँगा महाराज! उसने कहीं भेद खोल दिया तो ग़ज़ब ही हो जायगा।'

'तुम बड़े बातूनी मालूम होते हो।' कह कर महाराज ने पगड़ी सिर पर रक्खी और आवाज़ लगायी—'अरे कोई है, इसे वधिक के हवाले करो।'

नाई सचमुच ही गिड़गिड़ा कर बोला, 'महाराज, मेरी बात मानिये। क्यों मुझ ग़रीब की जान लेते हैं। मुझ से ही अपने बाल कटवाया

कीजिये। वरना आप जो इतने नाइयों की हत्या कर रहे हैं उन सब की आत्माएँ आपको बड़ा तंग करेंगी। भेद तो आख़िर आदमी से ही छिपता है। आदमी को अगर आप मार डालें तो उसका ख़ून बोलता है। यह आपने नहीं सुना क्या?'

'अच्छा, अच्छा, तुम मेरे सामने से दूर होओ।' और राजा को उस पर दया आयी अथवा पता नहीं कि क्या बात हुई जो राजा ने उसे जीवनदान दे दिया—पहली बार पहले नाई को।

राजमहल से बाहर निकल नाई ने आराम की साँस ली। उसे बिलकुल विश्वास नहीं था कि वह बचेगा। परन्तु उसकी चातुरी ने उसे बचा लिया। 'राजा के सिर पर सींग! भई वाह! मुझे क्या मालूम था कि क़िस्सा यह है! वरना पहले से वैसी तैयारी करके जाता! भला कोई मेरी बात मानेगा? मैं भी अगर खुद अपनी आँखों से देख कर न आया होता तो ऐसी बात पर कभी विश्वास न करता! राजा के सिर पर सींग! भई वाह। जो सुनेगा वही हँसेगा। ऐसी विचित्र बात और किसी को पता नहीं। मगर लड़के की क़सम खाकर आया हूँ। जान बचाने के लिए ही सही; मगर क़सम तो भाई क़सम ही है।'

'राजा के सींग! ख़ूब! और राजा के सींग उसके दिमाग़ में इस तरह घुस गये कि बस, मानो ख़ुद उसके सिर से फूटे पड़ रहे हों!' रास्ते में जो भी नज़र आया उससे ही इस विचित्र और अनहोने भेद को प्रकट कर देने के लिए उसका मन हुआ; परन्तु किसी तरह वह अपनी इच्छा को दबाये अपने रिश्तेदार के यहाँ पहुँचा।

वे सब लोग भी उसे देखकर बड़े चकित हुए। क्योंकि सबने उसे मरा हुआ समझ लिया था। इसलिए सभी उसे घेर कर खड़े हो गये और लगे पूछने, 'क्यों भाई क्या बात हुई ? क्या महल के भीतर तक राजा के बाल काटने तुम नहीं गये ? सिपाही तो तुम्हें पकड़ कर ले गये थे ?'

'बाल काटने गया क्यों नहीं।'

'सर तो तुम्हारा मौजूद है, यह कैसी बात।'

'यह कुछ मत पूछो। क़िस्मत थी कि बच कर आ गया। वरना अपने शहर में बुला कर तुमने मुझे मारने में तो कुछ कसर तो लगा नहीं रक्खी थी ?'

'यह तो सब हुआ। मगर बताओ भी तो कि क़िस्सा क्या हुआ।'

'वह कुछ मत पूछो ! बस कुछ पूछो मत ! ऐसी बात है कि बस !'

'अरे भाई कुछ बताओगे भी या व्यर्थ ही हम लोगों का कुतूहल बढ़ाओगे।'

'बस कुछ पूछो मत ! बड़े मज़े की बात है।' और वह खिलखिला कर हँस पड़ा। 'बड़े मज़े की बात है।'

'अरे कुछ बतायेगा भी', एक ने उसकी पीठ पर घूंसा मार कर कहा।

'तू पागल तो नहीं हो गया। मुझे यहाँ से सही-सलामत घर भी जाने देगा ? वरना अगर राजा को कहीं ख़बर लग गयी कि यहाँ मैं इस तरह तुम लोगों से बात कर रहा हूँ तो अभी मुश्किल पड़ जायेगी।'

'तू भी अजीब गधा है। आख़िर तुझसे यह कौन कहता है कि तू इस तरह चीख़ कर बात कर। ले, इधर आकर बैठ। मैं किवाड़ बन्द किये देता हूँ। फिर तो कोई नहीं सुनेगा।' और उन तीन-चार आदमियों में से जिसने यह बात कही थी, आगे बढ़कर उसने कोठरी का दरवाज़ा बन्द कर दिया।

एक दूसरे ने कहा—'हाँ भाई अब ठीक है। आराम से यहाँ बैठो और अब बताओ कि आख़िर क़िस्सा क्या है। ऐसी बात क्या है कि राजा जिस नाई को बाल कटवाने बुलाता है उसे ज़िन्दा बाहर नहीं आने देता। मार डालता है। तुम उसके बाल काट कर ज़िन्दा बाहर आ सके सो किस तरह?'

तीसरे ने कहा—'हाँ क़िस्सा क्या है बताओ तो?'

नाई बोला—'भाई बताऊँ क्या। लड़के की क़सम खाकर आया हूँ।'

'अरे दुत, बड़ा हरिश्चन्द्र का नाती बना फिरता है। क़सम खाकर आया है सो क्या हुआ?'

'हाँ, बता, बता ज़रूर कोई गहरा भेद है।'

'गहरा भेद तो है ही।' दूसरे ने कहा।

'तो बताता क्यों नहीं रे?'

'अरे बताऊँ क्या? राजा के…।'

'हाँ, हाँ, राजा के कोढ़ है या कहीं दाग़ है? या कोई अङ्ग-भंग है। क्या बात है? बता, बता हम लोग किसी से—'

'इनमें से यह कुछ नहीं। न कोढ़, न दाग़, न अङ्ग-भंग। वस वड़ी अजीव वात है ! राजा के—'

'राजा के, क्या ?'

'कुछ पूछो नहीं। राजा के—मगर नहीं भाई। लड़के की क़सम खा कर आया हूँ। मुझे अव ज़्यादा मत दवाओ, वरना वात तो वड़े मज़े की है ! तुम्हें ज़रूर वताता। और वताना भी चाहता हूँ। सुनो, राजा के—नगर नहीं भाई। लड़के की क़सम भी तो कोई चीज़ होती है।' और वह उठ कर खड़ा हो गया।

साथियों में से एक ने झल्लाकर कहा—'अरे कोई वात भी है, या हम लोगों को योंही वेवकूफ़ वनाते हो। चलो जाओ ऐसी कोई वात तो हो नहीं सकती कि जिसके सुने विना रोटी हज़म न हो, या सुन लेने से कोई वड़ा राज मिल जाये।'

'वात तो ऐसी ही है।'

'तो फिर वताते क्यों नहीं। और हम लोग क्या करें ? घंटे भर से तुम्हारे पैर तो पड़ रहे हैं।'

'अरे भाई कोई ख़ास वात नहीं है। राजा के—'

'फिर वही। वस हो गया। अव हम लोगों को तुम्हारी वात नहीं सुननी। चलो, अपने घर का रास्ता देखो। तुम जैसा आदमी मैंने देखा नहीं। कुशल मनाओ कि सही सलामत घर जा रहे हो।'

'दो अक्षर मुँह पर रक्खे हैं। परन्तु वाहर नहीं निकलते।' नाई ने कहा।

'बाहर नहीं निकलते तो अच्छा है। हमें अब सुनना ही नहीं।'

और उसके भेद की तरफ़ से सब ने ऐसी उदासीनता धारण कर ली कि वह देखता ही रह गया। 'अच्छा भाई, तो चलूँ।' और वह चल पड़ा। साथियों में से एक ने कहा—'अरे भाई सुनो। इस तरह नाराज़ होकर क्यों जा रहे हो। बात नहीं सुनानी तो मत सुनाओ।'

'सुनाने न सुनाने की बात नहीं। परन्तु अब मैं चलूँगा।'

और वह अभी कुछ रुक गया था सो आगे बढ़ा। चला जा रहा था धीरे-धीरे कि यकायक पेट में दर्द हो उठा। जैसे भीतर कोई चीज़ उमड़ रही है और बाहर निकलना चाहती है। नाई बड़ा परेशान हुआ। अब वह क्या करे? कहाँ जाय? अभी तक सींग शब्द के वे जो दो अक्षर उसके होठों पर थे, वे पेट में पहुँच गये थे और बाहर निकलने के लिए बेचैन हो रहे थे। जैसे अक्षर न होकर कोई दो सजीव चूहे थे। अथवा कोई ऐसे भारी पदार्थ कि जो पेट में रह ही नहीं सकते थे। रह सकते थे तो बाहर निकल कर ही रह सकते थे। अब वह सचमुच क्या करे? अभी-अभी उसके पेट की यह हालत हो गयी थी। यदि अपने साथियों के सामने उसे ऐसा लगता कि मुँह में ये जो दो शब्द हैं, उन्हें यदि वह बाहर नहीं निकालेगा तो उसे तकलीफ़ हो जायगी, तो वह ज़रूर उनको वह मज़े की बात सुना ही देता। फिर चाहे कुछ भी होता। परन्तु अब वह किससे कह डाले? 'ख़ूब—राजा के दो—और यहाँ किसी आदमी को मालूम नहीं। न मन्त्री को, न सेनापति को, न किसी दरबारी को कि राजा के दो सीं—' उसकी बेचैनी बढ़ चली। मार्ग में जिसे देखता उसे बुलाकर ही वह कह देना चाहता—

'अरे रे सुनो—तुम्हारे राजा के दो सीं—' और उसका रोम-रोम व्यग्र हो उठता किसी के कान में सिर्फ एक बार यह कह देने के लिए—"तुम्हारे राजा के दो सीं—' परन्तु उसे कोई ऐसा आदमी नहीं मिला कि जिस पर वह विश्वास कर सकता और जो किसी दूसरे से इस भेद को न कहता।

और इस तरह वह शहर के बाहर उस जगह पहुँचा जहाँ एक नदी बह रही थी।

(२)

चारों तरफ सन्नाटा था और नदी चुपचाप बह रही थी। नाई उसके नज़दीक पहुँचा। पानी पीने के लिए झुका। फिर मानो उसके कान में कुछ कहेगा। बहुत धीरे से बोला—

'अरे देखो तुम्हें एक बात सुनाऊँ।'

'क्या बात ?' नदी ने उत्सुक होकर पूछा।

'बड़े मज़े की बात। तुम्हें मालूम नहीं होगा।'

'आख़िर—'

'किसी से कहोगी तो नहीं।'

'अजी नहीं, मैं भला किससे कहने जाती हूँ। और यहाँ मेरी दोस्ती ही किससे है।'

'अच्छा सुनो—'

'कहो भी—'

'राजा के दो सींग—' नाई ने आख़िर कह डाला और उसका पेट हलका हो चला।

'राजा के दो सींग' नदी की जिस लहर ने सुना वही दूसरी के कान में कह दौड़ी 'राजा के दो सींग। मगर देखो किसी से कहना नहीं।' और नदी की सारी लहरें चञ्चल हो उठीं। और हवा ने सुना और किनारे के पीपल के विशाल वृक्ष ने सुना और सभी पत्तियों ने सुना कि नदी की लहरें बड़ी खुश हैं और धीरे-धीरे आपस में कुछ कह रहीं हैं, और हँस रही हैं और ठिलठिला रही हैं। पीपल के वृक्ष से नहीं रहा गया, बोला—'अरे भाई क्या बात है ? यह नाई तुम्हारे कान में क्या कह गया जो इतनी ख़ुश नज़र आ रही हो ?'

'कुछ पूछो नहीं।' लहरों ने कहा।

'आख़िर'

'बड़े मज़े की बात है ?'

'मैं भी सुनूँ।'

'किसी से कहना नहीं।'

'अजी नहीं। किसी से कहने की ज़रूरत ?'

'अपना जो राजा है—'

'अच्छा।'

'उसके दो सींग हैं।'

'राजा के दो सींग हैं !' पीपल के हर एक पत्ते ने चौंक कर कहा। और चूँकि उस दिन उन्हें और कोई काम नहीं था, वे एक दूसरे से इसी व्यापार की चर्चा करने लगे। 'यह भी ख़ूब रही। हम लोगों को अब तक पता ही नहीं था कि राजा के सींग हैं।'

उसी दिन रात को वहाँ ठहरी एक बरात। सारे बराती सो गये। बाजे वाले भी सो गये। नींद नहीं आ रही थी तो केवल उन वाद्य-यंत्रों को जो दिन में काफ़ी थके होने पर भी इस समय जागना पसन्द कर रहे थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि नदी की ये लहरें, और पीपल के ये पत्ते, और जंगल के और सारे छोटे मोटे दरख़्त इतनी रात बीते भी आपस में किस बात की कानाफूँसी कर रहे हैं। इसलिए ढोल से जब नहीं रहा गया तो उसने अपने नज़दीक के पीपल के एक पत्ते से पूछा—'अरे भाई, आज क्या मामला है। तुम लोग आपस में काहे की चर्चा कर रहे हो। कोई ख़ास बात है क्या? मुझे भी सुनाओ न?'

'अरे तुमने नहीं सुना?'

'न' ढोल ने अपना सिर हिलाया।

'जिस शहर में तुम लड़का विवाहने जा रहे हो न, वहाँ के राजा के—'

'वहाँ के राजा के—क्या?'

'सिर पर दो सींग हैं। ठीक बैल जैसे।'

'राजा के दो सींग?'

'हाँ, हाँ, दो सींग।'

और बाजों का वह जो समूह था उस रात उसमें से किसी को नींद नहीं आयी।

(३)

सुबह बरात चली। और बाजे वाले ने ढोल पीटा। उसका सुर सुनकर वह चौंक पड़ा। हमेशा उसके ढोल से जो आवाज़ निकलती थी

वह होती थी आनन्द की और उल्लास की, और उत्सव की। परन्तु यह क्या कह रहा है ! 'राजा के दो सींग !' 'राजा के दो सींग !' जितना ही ज़ोर से वह पीटता उतना ही गम्भीर ढोल का स्वर होता—'राजा के दो सींग !'

ढोलवाला परेशान हो गया। और बरात वालों पर भी अजब हैरानी छा गयी। तब मँजीरा, जो कि रात को शायद सो गया था—एकदम पूछ बैठा—'तुझसे किसने कहा ! तुझसे किसने कहा !'

ढोल ने जवाब दिया, 'राजा के नाई ने कहा ! राजा के नाई ने !'

'यह किस्सा क्या है !'

'कैसी गुस्ताख़ी है !'

'कैसा अनाचार है !'

'यह ढोल कहता क्या है !'

'राजा के सम्बन्ध में ऐसे अपशब्द !'

'शहर में घुसे नहीं कि आफत आ जायेगी।'

'परन्तु अब करें क्या !'

'बाजे बन्द कर दिये जाँय और बरात गुमसुम चोरों की तरह नगर में प्रवेश करे—यह उचित होगा क्या !'

'और जिस राजा के नगर में जा रहे हैं उसके ही विरुद्ध यह ढोल अपना गुस्ताख़ी से भरा राग अलापता रहे, यह भी ठीक होगा क्या !'

आख़िर बरात के बड़े-बूढ़ों की यही राय हुई कि बाजे तो ज़रूर बजना चाहिए, जो होगा वह बाद में देखा जायगा।

और बरात ने नगर में प्रवेश किया। नगर के बाल, वृद्ध और वनिता चौंक पड़े। 'बरात तो ठीक है। परन्तु यह कैसी दिल्लगी है?'

यह ढोल क्या कह रहा है—'राजा के दो सींग!'

'ऐं! राजा के सींग हों और हमें पता न हो?'

'राजा के दो सींग!' ऐसी बात है तो देखना चाहिए कि राजा के सींग कैसे हैं?'

'हैं भी अथवा नहीं। और यदि हैं तो क्यों हैं।'

'हमें ऐसा राजा नहीं चाहिए जिसके सिर पर सींग हों।'

'परन्तु देखना भी चाहिए कि सींग कैसे हैं।'

'ज़रूर देखना चाहिए, ज़रूर!' और बरात के साथ जो भीड़ थी वह राजमहल की तरफ़ दौड़ पड़ी।

राजा दरबार में बैठा हुआ था कि दरबान ने आकर ख़बर दी, 'महाराज बाहर लोगों की बड़ी भीड़ जमा है। सब कह रहे हैं कि राजा के सींग हैं। हम देखेंगे।'

'मेरे सींग! किसने कहा यह उनसे? बदमाश कहीं के! सब को यहाँ से निकाल दो।'

'महाराज वे कह रहे हैं कि हम ज़रूर देखेंगे।'

'उनसे कहा किसने?'

'महाराज, कह रहे हैं कि नाई ने कहा है।'

'नाई ने! बादमाश कहीं के!·····किस नाई ने?·····क्या

कहा ? मेरे सींग !......अच्छा ठहरो ! मैं अभी देखता हूँ इन बदमाशों को !'

और प्रजा की इस असह्य धृष्टता से महाराज मानों क्षोभ की मूर्ति बन गये। परन्तु पसीने से जैसे उनका बदन भीग-सा रहा था। दरबार में सन्नाटा था ! सभासद एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। बाहर कोला-हल बढ़ता जा रहा था।

मंत्री ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज हर्ज क्या है। प्रजा की सनक है। किसी शत्रु ने बहकाया है, ऐसा जान पड़ता है। उनको यहाँ आने दीजिये। असन्तुष्ट करके उन सब को यहाँ से हटाया जाय, इससे अधिक कहीं अच्छा यह है कि वे सब सन्तुष्ट होकर यहाँ से जावें।'

'नहीं, नहीं, हरगिज़ नहीं ! मैं अभी आता हूँ !' और महाराज उठ कर खड़े हो गये। सीधे वहाँ पहुँचे जहाँ रानी उनकी मानो प्रतीक्षा कर रही थीं। अथवा बाहर का कोलाहल सुनकर स्वयम् राज-दरबार में आने को उद्यत हो रही थीं।

राजा गया और उनसे लिपट कर एकदम बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगा।

'आख़िर बात क्या है ? अधीर क्यों हो रहे हो ? बाहर यह काहे का शोर-ग़ुल है ?'

'मेरे सींग ! मेरे सींग देखना चाहते हैं वे ! उन सब को मालूम हो गया है ! नाई ने बड़ा धोखा दिया !'

'तो इसमें इतना अधीर होने की बात क्या है। सींग ही तो देखना चाहते हैं वे।'

'हाँ—'

'तो बस दिखा दीजिये।'

'उनको दिखा दूँ!'

'हाँ, हाँ, उनको दिखा दीजिये। कितने वर्षों से मैं कहती हूँ आपसे कि इन सींगों को आप इस प्रकार छिपाइये मत। आप जितना उनको छिपायेंगे उतना ही मानो वे और बड़े होकर सारी दुनिया की आँखें अपनी ओर खींचेंगे।......सींग ही तो देखेंगे वे! बस!......और जहाँ आपने एक बार अपनी इस शर्म को, इस लज्जा को, अपने इस दोष को, उनके सामने खोल कर रख दिया कि आपके सींग हमेशा के लिए सिर से अन्तर्धान हो जायँगे।'

'नहीं, नहीं, मुझे कुछ और तरकीब बताओ। कोई ऐसा उपाय कि मेरी प्रजा मेरे ये सींग न देख सके। मेरे सींग देख कर क्या कहेंगे?'

'क्या कहेंगे? यही तो कहेंगे कि आपके सींग हैं। परन्तु एक बार जब वे देख लेंगे, फिर तो उनके देखने के लिए कुछ रहेगा नहीं? फिर वे क्या कहेंगे?'

'तो मैं उन सबको अपना सिर दिखा दूँ?'

'हाँ, हाँ, मैं कहती हूँ अवश्य दिखा दीजिये।'

परन्तु राजा को चक्कर आ गया। बात यह हुई कि सामने एक दर्पण

था। दर्पण के प्रतिबिम्ब में उसने सहसा देखा कि सिर पर इतनी मोटी पगड़ी के होते हुए भी सींग बाहर निकल रहे हैं, और मानो बराबर बढ़ रहे हैं। यह देख कर उसका माथा घूम गया और वह त्रस्त-शिथिल भाव से रानी के कन्धे पर सिर रख कर रह गया।

थोड़ी देर में कुछ होश आने पर राजा बोल उठा—'यह देखो! ये तो और भी बढ़ रहे हैं।......बराबर बढ़ रहे हैं! कमबख़्त!...... मानो खुद सारी दुनिया को बुलाकर दिखाना चाहते हैं कि हम यहाँ हैं, राजा के सिर पर हैं!......क्या करूँ, इनको नोंच दूँ, तोड़ दूँ, काट दूँ। कैसे इनको लोगों की नज़र से छिपाऊँ?'

'निरन्तर सब की नज़र में इनको रख कर। और वे अपने आप छिप जायंगे।......आप मेरा कहा मानिये। जाइये, पगड़ी सँभालिये और सबको बुलाकर कहिये कि आवें और आपके सींग देखें।'

और उसने राजा को सँभाला। उनका पसीना पोंछा। और उन्हें एक गिलास ठंडा जल पीने को दिया।

'अच्छी बात है। जैसा तुम कहती हो वैसा ही करूँगा।' और उसने अपनी पगड़ी सँभाली। जितना वह पगड़ी सँभालता था, और जितना उन सींगों को ढकने की कोशिश करता था, उतना ही दर्पण के उस प्रतिबिम्ब में वे बाहर निकल कर अपने को प्रदर्शित करने को उद्यत थे। राजा ने हैरान होकर कहा—'इनको कैसे ढकूँ?'

'ओह! जब आप उन्हें सबको खोल कर दिखाने जा रहे हैं तब ढकने की फ़िक्र कैसी?'

राजा ने बल संग्रह किया। पगड़ी को योंही छोड़ दिया। और उसके सिर पर मानो सींग नहीं हैं, उसके सिर पर मानो कुछ भी नहीं है, इस प्रकार की मुद्रा धारण किये हुए वह धीरे-धीरे राज-दरबार की ओर चल दिया।

तब तक प्रहरियों की बाधा न मान कर, प्रजा की ख़ासी भीड़ राज-दरबार के अन्दर घुस आयी थी।

राजा को देखते ही सब एक स्वर से चिल्ला उठे—'हमने सुना है आपके सिर पर सींग हैं। हम देखेंगे।'

'ज़रूर हैं, देखिये।'

राजा ने रानी के कहे मुताबिक किसी तरह ये शब्द कह डाले। और फिर वह सिंहासन पर बैठ गया।

'तो फिर दिखाइये न!'

'लीजिये!'

और उसने पगड़ी उतारने के लिए दोनों हाथ ऊपर उठाये। उसकी साँस रुक रही थी। और जैसे मानो वह कोई पहाड़ उठा रहा हो, उसने दोनों हाथों से अपनी पगड़ी उतार कर फेंक दी।

'लीजिये। अब तो आप सन्तुष्ट हैं। मेरे सींग देख लीजिये। और जाइये अपने-अपने घर।'

'दिखाइये! कहाँ हैं? हमें तो दिखायी नहीं देते।'

अब तो कोई बात ही नहीं थी। सींग जितने बड़े थे उनसे दस हाथ और बड़े भी होते तब भी वह दिखा सकता था।

'देखिये, यह क्या है, मेरे सिर पर।' और उसने अपने सिर पर हाथ रक्खा। परन्तु रहस्य उसकी कुछ समझ में नहीं आया।

'देखिये। और यदि ऐसा ही है तो, (······जो है वह स्वप्न न हो जावे, इस भाव से डरते-डरते) उसने फिर सिर पर हाथ फेरा। और उसके मन पर से जैसे एक भारी, बहुत भारी बोझ हट रहा है—इस तरह कुछ आश्वस्त, कुछ त्रस्त, सचमुच हँसने की कोशिश करके वह बोला—'देख लिये आपने। मैं स्वयम् उन्हें खोज रहा हूँ। मेरे तो हाथ नहीं आते। आपको नज़र आयें तो देखिये।'

और प्रजा ने सचमुच कुछ हैरान और कुछ शर्मिन्दा होकर देखा कि सींग नाम की कोई चीज़ राजा के सिर पर नहीं है जो उन्हें दिखायी पड़े।

———

फ़ोटो की फ़िल्म



बाबू श्यामाचरण को फ़ोटोग्राफ़ी का बड़ा शौक था। वे स्वयम् तो एक अच्छे फ़ोटोग्राफ़र थे ही, उनकी पत्नी प्रमदा भी इस कला में सिद्धहस्त थी। कुछ दिनों से उनकी छोटी बहन उमा भी अपने नये कैमरे से उड़ती चिड़ियों और सड़क पर दौड़ती गाड़ियों की तस्वीर खींचना सीख गयी है। श्यामाचरण जब कभी बाहर जाते तब कैमरा उनके साथ चलता। पुरानी इमारतों या नदी किनारे के सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र उतार कर लाते और प्रमदा के हवाले कर देते। धोने और छापने का काम उसी के सुपुर्द था।

हाल ही में श्यामाचरण चित्रकूट गये थे। वहाँ से वह कोई दो दर्जन चित्र उतार कर लाये थे। प्रमदा अँधेरे कमरे में बैठी उन्हीं चित्रों को धो रही थी। सामने मेज़ पर रासायनिक द्रव्यों से भरी तीन-चार शीशियाँ रक्खी थीं। चार रकाबियाँ थीं। बग़ल में पानी लेने के लिए नल लगा हुआ था। पास ही एक तिपाई पर काले कपड़े में लिपटे हुए प्लेट और फ़िल्म रक्खे हुए थे। सामने एक लैम्प जल रहा था, जिसका अस्पष्ट लाल प्रकाश उसके मुखमण्डल को एक अजीब अरुणिमा से रंजित कर रहा था। उसने लैम्प को ज़रा धीमा करके कपड़े के भीतर से एक प्लेट निकाला, उसको ब्रुश से साफ़ किया, फिर उसे रकाबी में रख कर उस पर

धीरे-धीरे चित्र को उभारने वाला मसाला डालना शुरू किया। पन्द्रह-बीस सैकण्ड के बाद प्लेट सहसा बिलकुल काला हो गया। हताश होकर उसने निकाल कर अलग रख दिया। फिर दूसरा प्लेट निकाला और उसे रकाबी में रख कर उत्सुक दृष्टि से प्लेट पर घोल की प्रक्रिया देखने लगी। दस ही सैकण्ड बाद प्लेट पर किसी चित्र की रेखाएँ उभर उठीं। शायद कि... पर्वत का दृश्य था। प्रमदा का हृदय खिल गया। मूर्तिकार को पत्थर... भौंडे टुकड़े में क्रम-क्रम से सौन्दर्य का विकास होते देख कर जो आनन्द प्राप्त होता है, वही आनन्द शायद उस समय प्रमदा को मिला। उसने दो-तीन मिनट तक रकाबी हिलायी। फिर उस प्लेट को दूसरे घोल में डाल कर तीसरा प्लेट निकाला। इस प्रकार उसने सब प्लेट धोये। फिर फ़िल्मों की बारी आयी। पूरा गड्ड था। उन्हें कपड़े से बाहर निकालते समय फ़िल्मों का एक नया बक्स उसके हाथ में आ गया। प्रमदा ने देखा, उस बक्स की अभी चार ही पाँच फ़िल्में काम आयी हैं। उसने पहले उन्हीं को धोना निश्चित किया। तीन फ़िल्में धुल चुकीं। चौथी डिश में पड़ी हुई थी। प्रमदा उस पर अपनी दृष्टि जमा कर मन ही मन गुनगुना रही थी, साथ ही डिश भी हिलाती जाती थी। आध मिनट के बाद सहसा वह चौंकी! चित्र की रेखाएँ धीरे-धीरे उभर रही थीं, जैसे विस्मृति में लीन हुई स्मृति, किन्तु उसमें चित्रकूट का आकाश नहीं था, थीं किसी कमरे की सज्जित दीवारें और दो व्यक्तियों के अस्पष्ट चेहरे। उसने लैम्प का प्रकाश ज़रा तेज किया, डिश को ऊपर उठाया और उन छाया चित्रों को भली भाँति देखा। जिसकी मूर्ति उसके हृदय-पटल

पर सदैव अंकित रहती थी, उसको प्लेट पर पहचान लेने में उसे देर नहीं लगी। उसने देखा, उसके स्वामी श्यामाचरण एक कुर्सी पर बैठे हैं। बदन पर एक कुरता है और पैरों में कलकतिया स्लीपर। प्रमदा चकरायी। यह फ़ोटो कहाँ उतरी? किसने उतारी? और यह कौ…कौन है! प्रमदा ने और भी अच्छी तरह देखने के लिए फ़िल्म को रकाबी से बाहर निकाल लिया, उसे हाथ में लेकर लैम्प के सामने अपने दृष्टि-पथ में रक्खा। अब सब कुछ स्पष्ट हो गया। श्यामाचरण के सामने एक युवती खड़ी थी। प्रमदा ने देखा—भली भाँति देखा। ओंठ फरके, भौंहें मिल गयीं, माथे पर बल पड़ गये, मानो एक ही दृष्टि में उसने चित्र की सारी अव्यक्त भाषा को पढ़ लिया। 'छिः छिः शरम नहीं आयी! सेल्फ एक्सपोज़र* से काम लिया होगा।' सोचते ही बदन जल उठा। हृदय में जैसे सैकड़ों बिच्छुओं ने डङ्क मार दिये। 'यहाँ तक!' और उसने फ़िल्म को मुट्ठी में मरोड़ कर धरती पर पटक दिया।

(२)

सन्ध्या के समय श्यामाचरण बाबू कचहरी से घर लौटे। आते ही उन्होंने प्रमदा की खोज की। चित्र कैसे बने यह जानने के लिए वे अत्यन्त व्यग्र हो रहे थे। किन्तु प्रमदा आज बैठक में नहीं थी। कपड़े उतार कर वह उसके सोने के कमरे में गये। देखा प्रमदा लेटी है और उमा सिराहने बैठी उसका माथा दबा रही है।

---

* एक प्रकार का यन्त्र, जिसकी सहायता से अपना चित्र आप उतारा जा सकता है।

श्यामाचरण ने उद्विग्न होकर पूछा, 'क्या बात है ?' उमा ने उत्तर दिया, 'कुछ नहीं दादा, प्लेट धोते-धोते आज अचानक भाभी के सिर में दर्द होने लगा ।'

श्यामाचरण बोले—'कोई चिन्ता नहीं, रसायनिक द्रव्यों की उग्र गन्ध से बहुधा मस्तक में पीड़ा होने लगती है । एमोनिया सुँघाया था ?'

उमा बोली—'सुँघाया था । किन्तु उससे लाभ हुआ नहीं जान पड़ता । भाभी बहुत छटपटा रही हैं ।'

उमा की बात सुन कर श्यामाचरण ने प्रमदा का शरीर स्पर्श किया ।

'ओफ़ ! ज्वर भी तो चढ़ा है । बदन जल रहा है ! रबड़ की थैली उठा लो । थोड़ा बरफ़ हो तो उसमें भर कर इनके माथे पर रक्खो ।'

उमा बरफ़ लेने चली गयी । इधर श्यामाचरण ने बाहर आकर डाक्टर को लेने के लिए गाड़ी भेजी । डाक्टर साहब आये । उन्होंने प्रमदा की नब्ज़ देखी । उसके हृदय की धड़कन की परीक्षा की । अन्त में बोले—'मानसिक विचारों के एकाएक उत्तेजित हो जाने से ही रोगी की यह अवस्था हो गयी है । किन्तु घबराने की ज़रूरत नहीं । मैं दवा भेजता हूँ । उससे आराम मिलेगा । रात में नींद आ जाने से ही रोगी स्वस्थ हो जायगा ।'

फ़ीस के रुपये जेब में डाल कर डाक्टर साहब घर चले गये । उन्होंने दवा भेजी । किन्तु प्रमदा के मन या शरीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । उसे नींद नहीं आयी । रात भर करवटें बदलती रही । जैसे-तैसे सवेरा हुआ । डाक्टर साहब फिर आये । उसकी अवस्था देख

कर उनका चेहरा गम्भीर हो गया। श्यामाचरण ने उद्विग्न होकर पूछा, 'कैसी हालत है ?'

'हालत अच्छी नहीं है। रात को नींद आने से ठीक होता। इस समय हृदय की गति और भी तीव्र हो गयी है। न हो एक बार सिविल सर्जन को बुला भेजिये। देखें उनकी क्या राय है ?' डाक्टर ने कहा।

श्यामाचरण भी यही सोच रहे थे। उमा को प्रमदा के निकट छोड़ कर उसी समय सिविल सर्जन को बुलाने चल दिये।

उमा प्रमदा के सिरहाने बैठ कर उसके मस्तक पर हाथ फेरने लगी। बैठे-बैठे सहसा उसे न जाने किस बात की सुध आयी कि उसके अधरों पर हँसी की रेखा दौड़ पड़ी।

'भाभी !'

प्रमदा ने क्षीण स्वर में कहा, 'क्या है ?'

'मुझे शाबाशी देने कहो तो एक चीज़ दिखाऊँ।'

'चीज़ देखी नहीं, शाबाशी पहले दे दूँ !'

'समझ लो कि देख ली ! टाइम्स के एक सम्वाददाता ने एक तसवीर उतारी थी। याद है—बस वही बात है !'

प्रमदा बोली—'खूब याद है। मौलवी साहब जूते हाथ में लेकर भागे जा रहे थे। वैसी ही हालत में किसी ने तसवीर उतार ली। देख कर मुझे तो बड़ी हँसी आयी थी।'

'अच्छा, अब मेरी तसवीर देखो।' कह कर उमा पास के कमरे में दौड़ गयी और हाथ में एक चित्र लेकर वापिस लौटी। प्रमदा के इस

दुःख के समय भी उसके ओंठों की हँसी अपने में समा नहीं रही थी। उसने चित्र प्रमदा के सामने रख दिया। प्रमदा चौंक कर बोली, 'अरे! तूने यह चित्र कब उतारा!'

उमा ने हँस कर कहा, 'परसों! दादा कुर्सी पर बैठे थे और तुम उन्हें पान दे रही थीं। मुझे कुछ चुहल सूझी। दादा का कैमरा बगल के कमरे में रक्खा था। उसमें फ़िल्मों का नया बक्स भी लगा था। चुपके से तुम दोनों का फ़ोटो ले लिया। दो फ़ोटो ले पाये थे। एक को तैयार करके मैंने कल ही छापा है।'

प्रमदा ने व्यग्र होकर पूछा—'और दूसरी फ़िल्म क्या हुई?'

'बक्स में है। उसे मैंने दादा की फ़िल्मों में रख दिया था। परसों जल्दी-जल्दी में एक ही फ़िल्म धो पायी थी! कल उसे भी धोने का इरादा कर रही थी। किन्तु तुम पहुँच गयीं।'

'ओफ़! तू बड़ी नटखट है!' प्रमदा ने चित्र को स्थिर दृष्टि से देखते हुए कहा—

'क्यों?'

'पहले कहा होता।'

'फिर तुम्हें छका कैसे पाती!'

इतने में बाहर किसी के पैरों की आहट सुनायी पड़ी।

प्रमदा बोली, 'दुत, देख दादा आ रहे हैं। सिविल सर्जन इविल सर्जन को दिखाने की ज़रूरत नहीं। कह देना—मैं अच्छी हो गयी।'

चित्रकार

प्रकाश के प्रथम स्पर्श से फूल छिटक पड़े। सघन वृक्षों की पंक्तियों के ऊपर सूर्य्य की किरणें खेल रही थीं, मानो किसी ने उनके ऊपर अबरक छितरा दिया हो। एक ओर उज्ज्वल प्रकाश, दूसरी ओर अन्धकार की घनी छाया। प्रकाश अन्धकार का पीछा कर रहा था।

सवेरे-सवेरे राजकुमारी सुनन्दा अपनी चित्रशाला में पहुँची। कञ्चन ने अपनी इच्छा से उसका एक चित्र बनाया था। वह उसी को देखने आयी थी।

चित्र को देखते हुए उसने कहा—'अच्छा तो बना है। तुमने आज तक जितने चित्र बनाये हैं, यह चित्र उन सब से अच्छा है। लाओ इसको राज-दरबार की चित्रशाला में भेज दूँ।'

आज ही नहीं, प्रत्येक नये चित्र के तैयार हो जाने पर कञ्चन को इसी प्रकार की बात सुननी पड़ती थी, इसीलिए उसके निकट राजकुमारी की प्रशंसा का कुछ अधिक मूल्य न था।

उसने कहा—'नहीं, यह चित्र मेरी ही चित्रशाला में रहेगा।'

'तो क्यों ?'

'लोगों को यह चित्र पसन्द न आवेगा ।'

राजकुमारी ने कुछ अभिमान के स्वर में कहा—'तुम हमेशा ऐसी ही बातें बनाया करते हो। तुम इस चित्र को मेरी चित्रशाला के लिए क्यों नहीं देना चाहते ?'

चित्रकार ने कहा—'इस चित्र की प्रत्येक रेखा मेरे हृदय की तन्त्रियों के स्पन्दन से मिलकर बनी है। तुम्हारी जिस आदर्श मूर्ति का चित्र मैंने अङ्कित किया है, दर्शक उसकी कल्पना न कर सकेंगे।'

किन्तु राजकुमारी ने चित्रकार की इन बातों को चित्र न देने का बहाना-मात्र समझा। अनुरोध ने हठ किया। विवश होकर कञ्चन ने वह चित्र भी राजकुमारी को दे दिया।

(२)

राजकुमारी को चित्रों के संग्रह करने का बड़ा चाव था। नगर में एक चित्रशाला थी। उसमें अच्छे-अच्छे चित्रकारों के बनाये हुए चित्रों का संग्रह था। चित्रकला के प्रेमियों के लिए वह संग्रह अध्ययन की चीज़ थी। प्रकृति के उपासकों के लिए वह स्थान प्रकृति देवी का मन्दिर था।

चित्रशाला दर्शकों से भरी हुई थी। उसमें इतने अधिक चित्र और मूर्तियाँ थीं कि दर्शकों की संख्या जानना कठिन था। आज वहाँ एक नया चित्र आया था। किन्तु लोगों को वह पसन्द नहीं आया। एक युवक बड़े ध्यान से उसी चित्र की ओर देख रहा था। चित्र की एक-

एक रेखा पर उसकी दृष्टि रुक-रुक जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि वह अपने हृदय-पट पर उस चित्र को खींच रहा है।

चित्र के नीचे बड़े बड़े अक्षरों में लिखा था—

'राजकुमारी सुनन्दा।'

'हूँ! चित्र अच्छा है। किन्तु आभा की कसर है। अच्छा! मैं एक ऐसा चित्र बनाऊँगा जिसको राजकुमारी भी पसन्द करेगी और दर्शक भी।—चित्र में आभूषणों की बहुत कमी मालूम होती है।' युवक बड़बड़ाता हुआ चित्रशाला के बाहर चला गया।

दूसरे दिन लोगों ने उसी चित्र के पास एक नया चित्र और लटका हुआ देखा। वह चित्र भी राजकुमारी का था। देखनेवालों ने कहा—'हाँ! यह चित्र अच्छा बना है।'

(३)

वर्ष भर में जितने चित्र इकट्ठे हुए थे, आज उन सबकी परीक्षा का दिन था।

राज-दरबार दर्शकों से भरा हुआ था। सामने सिंहासन पर स्वयम् महाराज बैठे हुए थे। बायीं ओर मन्त्री बैठे थे और दाहिनी ओर चित्र-परीक्षकों की एक समिति।

एक-एक करके सब चित्र दरबार में लाये गये। किन्तु उन सबमें सिर्फ़ दो चित्र पसन्द किये गये। वे चित्र थे सुनन्दा के। अब इस बात का निर्णय राजकुमारी के हाथ में था कि उन दोनों चित्रों में कौन अच्छा है।

एक दासी द्वारा दोनों चित्र राजकुमारी के पास भेजे गये।

उसने देखा, दोनों चित्र उसके ही हैं। कञ्चन ने एक चित्र उसके सामने ही खींचा था। किन्तु, यह दूसरा चित्र कब तैय्यार किया, यह उसकी समझ में न आया।

दीवार के सहारे एक बड़ा आईना रक्खा हुआ था। उसने चित्रों को उसके दोनों ओर रक्खा। फिर वह स्वयम् उसके सामने खड़ी हुई। वह एक बार आईने में अपना रूप देखती और एक बार उन चित्रों को।

दोनों चित्रों में बहुत अन्तर था। एक चित्रकार के हृदय से मेल खाता था और दूसरा सुनन्दा के रूप से।

दूसरे चित्र में उसने देखा—किसी चित्रकार के कुशल करों ने सौन्दर्य्य की छवि खींच दी है अथवा चमक-दमक से लबालब सरोवर में सौन्दर्य्य की छाया पड़ रही है।

वह सोचने लगी—कञ्चन ने एक चित्र तो इतना सुन्दर बनाया, लेकिन दूसरा—यह भी कुछ बुरा नहीं है। उसने एक दिन कहा था, 'तुम्हारी इन भोली-भाली आँखों में एक प्रकार के सौन्दर्य्य की झलक है। मैंने कई बार तुम्हारे चित्र में उस सङ्गीत को कवित्व के संग मिलाने का प्रयत्न किया है। किन्तु देखता हूँ—चित्र नहीं बना।'

सुनन्दा ने देखा, कञ्चन ने उस चित्र में वही भाव प्रकट करने का प्रयत्न किया था—'तब भी यह दूसरा चित्र अच्छा है।' कहकर उसने दासी को बुलाकर कहा, 'महाराज से कह दो—कञ्चन का यह दूसरा चित्र अच्छा है।'

दोनों चित्र दरबार में वापिस आये। सैकड़ों हाथ कञ्चन के स्वागत लिए आगे बढ़ गये। स्वयम् महाराज ने उठकर घोषणा की—'कञ्चन ! म्हारा यह चित्र सर्वोत्तम है। इस वर्ष भी तुम्हारा स्थान हमारे दरबार चित्रकारों में सब से ऊँचा रहेगा।'

किन्तु कञ्चन का पता न था। लोगों में खलबली मच गयी—ञ्चन कहाँ गया ?'

'तब फिर क्या यह चित्र कञ्चन का बनाया नहीं है ?' लोगों ने देखा, त्र के नीचे चित्रकार का नाम न था।

उस भीड़ में कञ्चन की बहुत खोज की गयी परन्तु पता न चला।

दूसरे दिन, रोज की तरह राजकुमारी चित्रशाला में पहुँचो। उसने खा, चित्र फटे हुए पड़े हैं। रङ्ग फ़र्श पर बिखर रहे हैं। क़लम और लियाँ टूटी-फूटी पड़ी हैं। और कञ्चन का पता न था।

धीरे-धीरे राजकुमारी वहाँ से लौटी। कञ्चन इस प्रकार क्यों और हाँ चला गया वह कुछ भी न समझ सकी।

———

अपराधी

को आज सातवीं लंघन थी। वैद्य ने कल पथ्य देन
था। उसके लिए पंचकोल की आवश्यकता थी।
ंसारी नहीं था! इसलिए पंचकोल लेने के लि
में जाना पड़ा। बस्ती वहाँ से तीन मील दूर थं
चला था। वे दो पैसे उसने अपने एक पड़े
बदले में लिये थे! निस्सन्देह पंचकोल के लिए

र उसकी दृष्टि हलवाई की दूकान पर पड़ी।
कन्या पार्वती की याद आ गयी। वह जब
ती के लिए खाने को कुछ चीज़ अवश्य ले जात
। वह कई दिनों बाद बाज़ार आया था। उ
पंचकोल एक ही पैसे का लेगा। एक पैसे की उ
दो से भी कुछ कम आयीं। उसके बाद पंसारी
की पुड़िया लेकर वह घर चल दिया।